पुरुषोत्तम नागेश ओक

लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू राजभवन

लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू राजभवन हैं

लेखक

पुरुषोत्तम नागेश 'ओक'

अध्यक्ष

भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान

अनुवादक

जगमोहन राव भट्ट

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110 005

मूल्य : 40.00 रुपये

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 डी.बी. गुप्ता मार्ग
(समीप प्रह्लाद मार्केट) करोल बाग, नई दिल्ली-5
फोन : 23553624, 23551344
E-mail : indiabooks@rediffmail.com

संस्करण : 2007

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

अनुक्रम

आमुख

भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान ने एक अति उल्लेखनीय और दूरगामी प्रभावकारी उपलब्धि हस्तगत कर ली है। वह यह है कि कश्मीर से कन्याकुमारी अन्तरीप तक, सभी ऐतिहासिक मध्यकलीन भवन, जो भारत में इधर-उधर दृष्टिगोचर होते है, मुस्लिम-पूर्व काल की सम्पत्ति हैं चाहे वे आज मकबरों और मस्जिदों के रूप में मुस्लिम आधिपत्य, कब्ज़े में ही क्यों न हों।

संस्थान ने, अपने शोध-कार्य के विदग्धकारी प्रमाणों के रूप में कुछ पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—(१) ताजमहल हिन्दू राजभवन है; (२) फतहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर है; (३) आगरा का लालकिला हिन्दू भवन है, और (४) दिल्ली का लालकिला हिन्दू लालकोट है। वर्तमान शोध-ग्रन्थ भी उसी ऐतिहासिक अन्वेषणमाला की एक कड़ी है। इसमें सिद्ध किया गया है कि लखनऊ स्थित तथाकथित इमामबाड़े भी प्राचीन हिन्दू राजभवन हैं जो विजयोपरान्त मुस्लिम आधिपत्य में चले गए थे।

यद्यपि आधुनिक लखनऊ में इधर-उधर फैले हुए छोटे-बड़े अनेक भवनों को 'इमामबाड़े' के नाम से अत्यन्त सहज, सरल रूप से सम्बोधित किया जाता है, तथापि इस ग्रन्थ में 'इमामबाड़ा' शब्द मात्र दो भवनों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है—अर्थात् बड़ा इमामबाड़ा और हुसैनाबादी इमामबाड़ा नाम से पुकारे जाने वाले भवनों के लिए यह 'इमामबाड़ा' शब्द उपयोग में लाया गया है। हम इन भवनों पर ही विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित कर रहे है क्योंकि ये दोनों सर्वाधिक विख्यात है, और साक्ष्य प्रस्तुत करने में भी सुविधा होती है, इसलिए भी। इन दो इमामबाड़ों की विशिष्टताओं से सुपरिचित, सुविज्ञ हो जाने पर पाठक को यह तथ्य मालूम हो जाना कठिन नहीं होगा कि लखनऊ स्थित अन्य सभी ऐतिहासिक संरचनाएँ पूर्वकालिक हिन्दू भवन ही है चाहे आज उनको मुस्लिम मकबरों अथवा मस्जिदों के रूप में घोषित, प्रचारित अथवा प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रसंगवश, हमने इस पुस्तक में कुछ अन्य ऐतिहासिक संरचनाओं का भी उल्लेख कर दिया है, जैसे सुप्रसिद्ध पत्थर का पुल जो लखनऊ नगर में से

गुज़रने वाली गोमती नदी के ऊपर बना हुआ है। वह पुल भी बहुत प्राचीन हिन्दू निर्मित है यद्यपि आज इसे भी, झूठे ही, मुस्लिम मूलोद्गम का बताकर, अति सरलतापूर्वक प्रचारित किया जा रहा है।

इस्लामी प्रचार की शताब्दियों ने जिस प्रकार जनमानस को पूरी तरह से भ्रमित कर दिया है और किसी भी युक्तियुक्त विचार-पद्धति को हृदयंगम करने से स्थायी रूप में अक्षम, असमर्थ कर दिया है वह अत्यन्त विद्ग्धकारी, हतप्रभ करने वाला है। यह संघातिक अनुभूति हमें उस समय प्राप्त हुई जब हम संयोग-वश लखनऊ-निवासियों से बातचीत कर रहे थे। उनमें से बहुत सारे लोग लखनऊ के अति पुरातन निवासी होने का दावा करने वाले अथवा लखनऊ में अनेक पीढ़ियों से निवास करने वाले परिवारों में जन्म लेने के कारण शेखी बखान करने वाले होते भी यही मानते चले आ रहे प्रतीत होते हैं कि लखनऊ में न केवल सभी बड़े भवन अथवा पुल ही नवाबों द्वारा बनवाए गए थे अपितु नवाबों से पूर्व सम्पूर्ण लखनऊ नगर ही अस्तित्त्व-हीन था और मानों स्वयं अल्लाह द्वारा ही यह नगर उनके लिए विशेष रूप में उपहार-स्वरूप प्रदान कर दिया गया था।

जब स्वयं लखनऊ वाले ही इतने मतवादी हैं और लखनऊ के पूर्ववृत्तों में अथवा इसके ऐतिहासिक भवनों में अथवा गोमती नदी पर बने हुए पुल की पूर्वकालीन जानकारी प्राप्त करने के प्रति दूषित अन्यमनस्कता प्रकट करते हैं, तब कोई आश्चर्य नहीं है कि जहां भी कहीं भारतीय इतिहास का प्रशिक्षण अथवा अध्ययन किया जा रहा है, चाहे विश्व का वह जो भी स्थान हो, वहाँ लखनऊ का मूलोद्गम मुस्लिमों द्वारा होने की झूठी कथा को शीघ्र प्रभावित होने वाले जन-मानस पर उद्योग, प्रयत्नपूर्वक लादने का दुष्प्रयत्न सतत, निरन्तर चल ही रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन विश्व की आँखें उस शैक्षिक-मनोरोग की महामारी के प्रति खोल देने का है जो मध्यकालीन भवनों के पूर्व-इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने वाले प्रयत्नों को हतोत्साहित करता है, चाहे कोई व्यक्ति उस परम्परागत विवरण में कितनी ही असंगतियों, बेहूदगियों की ओर ध्यान आकर्षित क्यों न कर दे।

भारतीय इतिहास से सम्बन्धित व्यक्ति एक विशिष्ट शिथिलता अथवा शैक्षिक थकान अथवा अरुचि से ग्रस्त होते जा रहे प्रतीत होते हैं। जब कभी किसी भवन के बारे में मुस्लिम दावों को गम्भीरतापूर्वक चुनौती दी जाती है अथवा उनके

प्रति शंका व्यक्त की जाती है, तब शिक्षा-शास्त्री लोग यह कहकर इधर-उधर बगलें झाँकने लगते हैं कि यह जाँच-पड़ताल आवश्यक नहीं है, अथवा यह महत्त्वपूर्व बात नहीं है। यह मुस्लिमपक्षपाती साम्प्रदायिक और मिथ्या-राजनीतिक घातक-विष सुस्पष्ट बेहूदी बातों में सही शोध-कार्य करने की तीव्र इच्छा को विनष्ट करने हेतु अब अधिक समय तक फैलने नहीं दिया जा सकता।

हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में सिद्ध किया है कि लखनऊ उपनाम लक्ष्मणपुर उपनाम लक्ष्मणावती एक अतिप्राचीन नगर है। इसका मूलोद्गम चिर अतीत के रामायण-युग तक लक्षित किया जा सकता है। दोनों इमामबाड़ों तथा गोमती नदी पर बना पत्थर का पुल जैसे लखनऊ के विशाल निर्माण मुस्लिम-पूर्वकालीन संरचनाएँ हैं। मुस्लिम अधिपतियों द्वारा लखनऊ में कुछ निर्माण तो दूर की बात है; बारम्बार हुए मुस्लिम लूट-आक्रमण और चढ़ाइयों ने तो किसी समय की इस महान, समृद्धशाली और पावन नगरी को विध्वंस, जनशून्यता, अवलुण्ठन और निर्धनता के अतिरिक्त कुछ दिया ही नहीं। यदि आज लखनऊ नगर गन्दी बस्तियों, खुले नालों-नालियों, छेद-युक्त ध्वंसावशेषों और सड़ाँध वाले खारी स्थानों से विद्रूप हुआ दिखाई देता है तो उसका पूरा कलंक, उसका एकमेव कारण यह है कि यह नगर इस्लाम के नाम पर अरबों, तुर्कों, ईरानियों, अफगानों, अबीसीनियनों, कज़्ज़ाकों और उज़्बेकों द्वारा शताब्दियों तक लूटा-खसोटा गया है और इसमें नर-हत्याकाण्डों का बोलबाला गरम रहा है। यदि कोमल-कान्त पदावली में इमामबाड़ों के नाम से पुकारे जाने वाले हिन्दू राजभवन आज विशाल कब्रों के श्मशान-स्थल बन चुके हैं, तो इसका कारण वह जिहादी रुझान है जिसमें मुस्लिम विजेताओं के अभ्युदय से पूर्व हिन्दुस्थान में प्रत्येक भवन, नगर और क्षेत्र को असंगत और व्यावहारिक रूप में अस्तित्वहीन, नगण्य समझा जाता रहा है।

यह एक शैक्षिक अपरूपता है। यह ऐसा कहना है कि जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप से निष्क्रमणार्थियों ने उत्तरी अमरीका के अछूते भाग को अपना निवास-स्थान बनाया था, उसी प्रकार अन्य देशीय जिहादियों की एक-पर-एक लहरों ने हिन्दुस्थान को अपना उपनिवेश बना लिया था। यह तो इस्लामी आक्रमणों से पूर्व के भारत के सम्पूर्ण इतिहास को पूरी तरह विस्मृत कर देना जैसा ही है; जबकि सत्य यह है कि यदि सम्पूर्ण विश्व में भारत प्रज्ञा, ज्ञान, महान कौशल, आध्यात्मिक उपलब्धियों, दूध, मधु और स्वर्ण के महान देश के रूप में

सुविख्यात था, तो वह स्थिति स्पष्टतया मुस्लिम-पूर्व काल में रही थी। जब एक बार भारत बारम्बार होने वाले मुस्लिम आक्रमणों का शिकार हो गया, तो भारत का सम्पूर्ण धन-वैभव, मान-सम्मान और नेतृत्व विनष्ट हो गया, लुप्त हो गया।

शिकार हुए देशों के इस्लाम-पूर्व के इतिहास को सर्वथा निर्मूल कर देने वाला इस्लामी-रुझान गया नहीं है। यह तो स्वयं अरेबिया से ही प्रारम्भ हुआ था, और अफ़ग़ानिस्तान तक के सभी क्षेत्रों में अत्यन्त सफलतापूर्व विस्तृत हो गया था—व्याप्त हो गया था। अतः किसी भी औसत श्रेणी के अरब, मिस्री, इराकी, सीरियाई, ईरानी, तुर्क अथवा पठान से उसके मुस्लिम-पूर्व पूर्वजों के बारे में पूछो, और निश्चित है कि वह अविश्वासपूर्वक अपनी पलकें झपक लेगा। कारण यह है कि उसकी दिमागी हालत इस प्रकार पूरी तरह से साफ़ कर दी गई है और उसे पूरी तरह से विश्वास दिला दिया गया है कि मानों वह तो स्वयं आकाश से ही एक मुस्लिम के रूप में अवतरित हुआ है। अन्ततोगत्वा, यदि वह मुस्लिम-पूर्व किसी इतिहास अथवा अपने देश के अस्तित्व की कल्पना ही कर सकता है, अथवा उसने यह तथ्य स्वीकार भी कर लिया कि उसका देश व उसके लोग ६२२ ई० पूर्व भी विद्यमान रहे होंगे तो भी उसे इतना पक्का पाठ पढ़ा दिया गया है कि वह इसे अत्यन्त क्षणिक, नगण्य, भ्रमित और निन्दनीय मानकर अपने कन्धे हिला देगा और इसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की बात करेगा नहीं, पढ़ेगा नहीं, विचार करेगा नहीं और सुनेगा भी नहीं।

इस प्रकार, इस्लाम ने इस्लाम-पूर्व काल के विश्व के सम्बन्धों में अध्ययन के प्रति घोर कु-सेवा की है। इस्लाम ने ऐसे इतिहास के समस्त अभिलेखों को न केवल समूल नष्ट करने का यत्न किया है, अपितु मुस्लिम-पूर्व इतिहास के सम्बन्ध में समस्त विवेचन और अध्ययन को अनुत्साहित और मूक-मौन कर देने का घोर प्रयत्न भी किया है। लखनऊ नगर और वहाँ बने हुए भवनों का इतिहास भी एक ऐसा ही असहाय शिकार है। लखनऊ मध्यकालीन मुस्लिम प्रचार के चक्रव्यूह में फँसकर अपनी आत्मा और प्राचीन व्यक्तित्त्व को विस्मरण कर चुका है, उन्हें गँवा चुका है। हमने पाठकों के हृदय में इसी अनुभूति को पैठाने का यत्न किया है, और ऐसा करने के लिए ही मुस्लिम अथवा पश्चिमी विद्वानों द्वारा अथवा अन्य समुदायों में भी उन्हीं के सिद्धान्त-समर्थकों द्वारा लिखित पुस्तकों में से विपुल राशि में प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

हम यह पर्यवेक्षण किए बिना भी नहीं रह सकते कि यद्यपि लखनऊ गत पच्चीस वर्षों से एक विश्वविद्यालय का केन्द्र-स्थल रहा है तथापि अत्यन्त शोचनीय स्थिति है कि इसके इतिहास विभाग ने स्वयं लखनऊ नगर के न सही, कम-से कम लखनऊ-स्थित तथाकथित इमामबाड़ों के मूलोद्भव और इतिहास के सम्बन्ध में किसी अत्यन्त आधिकारिक और वास्तविक पुस्तक को प्रकाशित करने का विचार भी कभी नहीं किया। मूल और योग्य अनुसन्धान के प्रति उस शैक्षिक विरक्ति, अरुचि की महाव्याधि का अन्य कौन-सा श्रेष्ठ उदाहरण होगा, जिसने इतिहास से सम्बन्धित विद्यालयों और विद्वानों को रोग-ग्रसित किया हुआ है। हम अपनी अन्वेषण विधाओं को पूर्णतः ठप्प, कुण्ठित करने के लिए इतिहास में मुस्लिम दावों को चुनौती देने अथवा उनकी समीक्षा करने के कारण टीका-टिप्पणी की आशंका को कितने समय तक सहन करते रहेंगे। यह स्थिति हमेशा के लिए तो बनी नहीं रहने दी जा सकती।

साम्प्रदायिक भावनाओं द्वारा अन्वेषण-कार्य को आक्रम्य और अवरुद्ध करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। विद्वानों को भयंकर भूलों और विदग्धकारी साक्ष्यों को लुक-छिपकर संकोच करने की साँठ-गाँठ नहीं करनी चाहिए तथा झूठी बातों की मौन स्वीकृति मात्र इसलिए नहीं देनी चाहिए कि उन बातों को निरंकुश शासकों के अन्तर्गत शताब्दियों तक दोहराया जाता रहा है। इतिहासकारों को इतिहास में बचकाने, मनमौजी और आधारहीन प्रसंगों के निस्सार बोझ को दूर हटाने में होने वाली कठिनाई से हताश नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए, हमें प्रायः बताया जाता है कि लगभग सभी मुस्लिम सुल्तानों अथवा नवाबों ने, अपने ही जीवन-काल में, स्वयं अपने ही लिए, एक-एक अतिविशाल मकबरा बनवा लेने की उत्कण्ठा, लालसा प्रगट की थी। हम इसका उल्लेख यहाँ विशेष रूप से कर रहे हैं क्योंकि इन तथाकथित इमामबाड़ों से जिस-तिस प्रकार चिपटी हुई असंगत ऊल-जलूल बातों में इस अत्यल्प, निरर्थक विचार का भी समावेश है। मात्र विलासिता का जीवन व्यतीत करने के लिए, क्रूरतापूर्वक अंग-भंग और खून की नदियाँ बहाकर राजगद्दी को हड़पने वाले अति नृशंस सुल्तान अपना ही मकबरा बनवाने को क्या कभी उतावले रहे होंगे? इस प्रकार की अयुक्तियुक्त और बेहूदगी बातों ने भारतीय इतिहास में अनुसन्धान-कार्य को अवरुद्ध और पंकिल बना दिया है। ऐसी बातों को अभी तक सहन किया जाता रहा है।

विशेषरूप में तथाकथित इमामबाड़ों का और सामान्य रूप में लखनऊ नगर का यह इतिहास, जो प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय-वस्तु है, सभी उपलब्ध साक्ष्य को, बिना किसी पक्ष-विपक्ष और अभिमान या पूर्वाग्रह के, संग्रह करने, मिलाने, तुलना करने, व्यवस्थित करने, विश्लेषण करने और निष्कर्ष निकालने में वस्तुतः शिक्षा देने वाला सिद्ध होना चाहिए।

इस श्रृंखला के पूर्व ग्रन्थों में, जिनके नाम ऊपर दिए जा चुके हैं, हमने बारम्बार इस बात को पूर्णतया दर्शाया है कि किस प्रकार इतिहास को पूरी तरह उल्टा-पुल्टा जा चुका है। विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों को, जिन्होंने भवनों को विनष्ट किया, ध्वस्त किया, लूटा-खसोटा और दुरुपयोग किया, अत्यन्त परिश्रमपूर्वक महान निर्माता और अलंकरणकर्त्ता प्रस्तुत किया गया है। हम तथाकथित इमामबाड़ों के इतिहास में परिवर्तन, विद्रूपण के बारे में भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं अर्थात् लखनऊ के नवाबों द्वारा तथाकथित इमामबाड़ों को बनवाना अथवा उनको अलंकरित करना तो दूर रहा, विजय हेतु लड़े गए युद्धों में इन भवनों को भीषण क्षति पहुँचायी, उनको समस्त धन-वैभवहीन किया और उन भवनों को अन्य लोग पुनः उपयोग में न लाएँ—इसलिए उनको कब्रिस्तान में परिवर्तित कर दिया। इस मामले में हमारे अध्ययन से, जैसा कि आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत साक्ष्य से स्पष्ट हो जाएगा, ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन कब्रों में से कुछ तो झूठी, जाली हैं। झूठी कब्रें बनाने में अथवा यह दावा करने में कि तलघर में कब्रें छिपी हुई हैं—मनोभाव यह हो सकता था कि छद्म-धार्मिक डरावे खड़े किए जाएँ जिससे कि तत्कालीन वर्धिष्णु ब्रिटिश प्रशासन द्वारा निरन्तर निश्शक्त होते जा रहे नवाबों से, जनोपयोग हेतु, उन भवनों को अपने अधिकार में लेने से मना किया जा सके।

अतः आशा की जाती है कि तथाकथित इमामबाड़ों और लखनऊ नगर के इतिहास के अतिरिक्त भी, सामान्य पाठक और गम्भीर अन्वेषक को आगामी पृष्ठों में विवेचन हेतु, और भारतीय व विश्व-इतिहास को सही प्रकार समझने में मार्गदर्शन हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

—पु० ना० ओक
अध्यक्ष,
भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान
एन-१२८, ग्रेटर कैलाश-I, नयी दिल्ली-११००४८

१

मूल असंगतियाँ

लखनऊ, भारत में उत्तर प्रदेश की राजधानी, एक अतिप्राचीन नगर है। इसका मूलोद्गम स्मरणातीत रामायणकालीन युग तक खोजा जा सकता है।

यह नगर उस क्षेत्र में बसा हुआ है जहाँ की भूमि पौराणिक अवतार भगवान राम के पावन चरणों और पराक्रमी क्रिया-कलापों से पुनीत हो चुकी है। लखनऊ और इसकी चतुर्दिक भूमि, भगवान राम की अर्धांगिनी सीताजी और अनुज लक्ष्मण की महान स्मृतियों से आज तक भी सुवासित है। भगवती सीता भारतीय नारी का दिव्य आदर्श और भ्राता लक्ष्मण भाई की स्वामी-भक्ति व शौर्य के दैदीप्यमान आदर्श हैं।

तथापि उत्तरकालीन विदेशी शासनान्तर्गत सुपोषित, अभिप्रेरित ऐतिहासिक पाखण्ड-कथाओं ने लखनऊ के सम्बन्ध में प्रत्येक बात को इस्लामी-मूल होने का विश्वास दिलाकर समस्त विश्व को ठगा है, बड़ा भारी धोखा दिया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमारा मुख्य सम्बन्ध लखनऊ के दो सर्वप्रसिद्ध भवनों से है जिनको आजकल 'बड़ा इमामबाड़ा' और 'छोटा हुसैनाबादी इमामबाड़ा' नाम से पुकारा जाता है। हम पाठक को यह विश्वास दिलाने के लिए विपुल मात्रा में प्रबल साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले हैं कि वे दो (तथा उनके अतिरिक्त भी अनेक अन्य) भवन, लखनऊ के विदेशी मुस्लिम शासकों द्वारा निर्मित होना तो दूर रहा, पूर्वकालिक हिन्दू राजभवन-संकुल हैं जो विजयोपरान्त मुस्लिम आधिपतय में आ गये थे।

अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि इन भवनों के नाम, मूलोद्गम, इतिहास और निर्माणोद्देश्य के साथ सम्बन्धित मूल असंगतियों और अनुपयुक्तताओं की ओर किसी भी व्यक्ति ने ध्यान दिया हो—ऐसा प्रतीत नहीं होता। इनके सम्बन्ध में जनता की धारणाएँ पूरी तरह से अस्त-व्यस्त और भ्रम-पूर्ण हैं।

आइए, हम सर्वप्रथम स्वयं 'इमामबाड़ा' नाम पर ही विचार करें।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' (ब्रिटिश विश्वकोष) ने 'इमाम' की परिभाषा "उस अरबी नेता के रूप में की है जिसका एक 'नमूने' के रूप में; उदाहरण—आदर्श स्वरूप, अनुसरण किया जाता है।" कुरान में नेताओं के लिए इसे कई बार उपयोग में लाया गया है। इमाम, इस प्रकार, मुस्लिम समुदाय के प्रधान का नाम ही हो गया। उसका कर्तव्य है कि आस्था की रक्षा करने, और राज्य की सरकार को बनाए रखने, अनुरक्षण करने के लिए वह पैग़म्बर का ख़लीफ़ा, स्थानापन्न हो। उससे छोटा पद शुक्रवार की प्रार्थना (नमाज) में नेतृत्व करना है।[१]

इस प्रकार, ब्रिटिश विश्वकोष के अनुसार एक 'इमामबाड़ा' किसी मस्जिद के अथवा शासन के प्रधान धार्मिक नेता का निवास-स्थान होना चाहिए। किन्तु, लखनऊ के ये दोनों भवन, यद्यपि 'इमामबाड़ा' के नाम से पुकारे जाते रहे हैं, तथापि, किसी इमाम के लिए निवास-स्थान के रूप में बनाए गये नहीं कहे गये हैं और न ही कभी यह दावा किया गया है कि उनको किसी भी श्रेणी में धार्मिक नेता द्वारा वास्तव में अपने उपयोग में—निवास-स्थान के रूप में—लाया गया है। लखनऊ के इमामबाड़ों के नाम और उनके प्रयोजन के सम्बन्ध में इस घोर असंगति की ओर न तो जनता ने ही कभी ध्यान दिया है, और न ही इतिहास के विद्वानों ने इस पर विचार-विमर्श किया है।

अन्य विचारणीय बात यह है कि, जैसा साधारण रूप में विश्वास किया जाता है, यदि लखनऊ के मुस्लिम नवाबों ने ही वास्तव में इन दोनों भवनों का निर्माणादेश दिया था तो इन भवनों के साथ हिन्दू प्रत्यय 'बाड़ा' अर्थात् प्रासाद, हवेली क्यों जुड़ा हुआ है? साथ ही, उन नवाबों ने इन भवनों को 'इमामबाड़ा' संज्ञा क्यों दी हो, जब तक कि उन्होंने इन भवनों को मुस्लिम-पुरोहितों के निवास-हेतु आवास के रूप में ही न बनवाया हो। जो विद्वान् यह विश्वास करते है कि लखनऊ के किन्हीं नवाबों ने इन 'इमामबाड़ों' का निर्माण करवाया था, उनको चाहिए कि वे उन शाही दरबारी कागज़-पत्रों को उद्धत करें जो सिद्ध करते हों कि क्यों, कब और किसने उन भवनों का नाम 'इमामबाड़ा' कर दिया। हमें दृढ़ विश्वास है कि उन्हें ऐसा कोई दरबारी अभिलेख नहीं मिलेगा, क्योंकि लखनऊ के किसी भी नवाब ने इन इमामबाड़ों का निर्माण करवाया ही नहीं था।

---

१. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', १९६१ ई०, खण्ड १२, पृष्ठ १०४।

आइये, हम अब एक अन्य पुस्तक का अध्ययन यह जानने के लिए करें कि लखनऊ के इन दो भवनों के लिए प्रयुक्त 'इमामबाड़ा' शब्दावली का युक्तियुक्त स्पष्टीकरण क्या दिया गया है? पुस्तक में पर्यवेक्षण है—"इमामबाड़ा शब्द का यथार्थ, बिल्कुल सही अर्थ 'प्राधिधर्माध्यक्ष का स्थान' है। यह शीर्षक अवध के शिया मुसलमानों द्वारा उस एक भवन को दिया गया है जो मुहर्रम के लिए अभिषिक्त है, अथवा पैगम्बर के अगले वंशजों—अली के पुत्रों की शहादत के समारोह के लिए प्रतिष्ठित है। इन पुत्रों को हिजरा (सन् ६६६ ई०) के ४०वें वर्ष में इस्लाम के प्रधान-पद के बराबर दावेदारों ने जान से मार डाला था।"[२]

ऊपर उद्धृत कौन की निर्देशिका भी पुष्टि करती है कि 'इमामबाड़ा' शब्दावली प्राधिधर्माध्यक्ष के स्थान अथवा भवन की द्योतक है। यदि ऐसा ही है, तो लखनऊ के शिया मुस्लिम लोग किसी भवन को यह शीर्षक क्यों दें जबकि उस भवन का यह प्रयोजन है ही नहीं।

ऐसे प्रश्न-प्रतिप्रश्न सम्मुख होने पर लोग अपनी बात पलट जाते हैं और कहने लगते है कि लखनऊ में प्रयुक्त 'इमामबाड़ा' शब्दावली का अर्थ वे भवन हैं जहाँ प्रत्येक शरीफ शिया मुस्लिम कारीगर ताज़िये बनाते है, जो पैग़म्बर मुहम्मद के दो पौत्रों, हसन और हुसैन के मकबरों के प्रतीक समझे जाते हैं। भवनों के प्रतीक वे ताज़िये फिर अन्यत्र दफ़नाए जाने के लिए मुहर्रम के जलूस में सजावट के साथ ले जाए जाते है?

फिर भी, यही प्रश्न शेष रह जाता है कि उन भवनों को इमामबाड़ा क्यों कहा जाए—ताज़ियाबाड़ा अर्थात् वह भवन जहाँ ताज़िये बनाए जाते है—क्यों न कहा जाए?

इमामबाड़ों के मूलोद्गम की परम्परागत विचारधारा के समर्थकों को यह भी अवश्य सिद्ध करना चाहिए कि इन दो इमामबाड़ों को बनवाने वाले नवाबों का मन्तव्य भी यही था कि ये भवन वे निर्माण-स्थल हों जहाँ ताज़िये बनाए जाएँ। वे इस बात को सिद्ध करने में कभी सफल नहीं हो सकेंगे। क्योंकि किसी भी पुस्तक में, जिनका उल्लेख हम अगले पृष्ठों में करने वाले है, यह दावा कहीं भी नहीं

---

२. दिल्ली, लखनऊ (आदि) के दर्शनार्थियों के लिए कौन की निर्देशिका, छठा संस्करण, सन् १९०६ ई०, पृष्ठ ६८।

किया गया है कि ये विशाल इमामबाड़े ताज़ियों के निर्माण-स्थल अथवा निर्माणोपरान्त शरण-स्थल, उनको रखने के लिए भण्डार-गृह के रूप में बनाए गए थे।

कुछ भी सही, यह असंगति यहीं समाप्त नहीं होती। बड़ा इमामबाड़ा, जो एक अति भव्य भवन-संकुल है, प्रचलित जन-विश्वास के अनुसार, सन् १७८४ ई० में पड़े भयंकर दुर्भिक्ष की अवधि में लखनऊ निवासियों को रोज़गार दिलाने वाले सहायता-कार्य के रूप में बनवाया गया था। यह मात्र काल्पनिक कथा है जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे; फिर भी यह मानते हुए कि यह सत्य बात ही है, यह पूरी तरह बेहूदा बात है कि किसी कूप-समूह, मार्गों, हरितालयों अथवा नहरों जैसे सार्वजनिक उपयोगिता के निर्माण-कार्य करने के स्थान पर कोई शासक एक ऐसा भवन बनवाना शुरू कर देगा जो ताज़ियों भर के लिए कारखानें अथवा/और भण्डार-घर के रूप में काम आ सके। साथ ही, यह भी सामान्यतः अनुभव नहीं किया जाता कि जो लोग उस काल्पनिक कथा में विश्वास नहीं करते रहे हैं, उन्होंने भी यह दावा कहीं नहीं किया है कि दुर्भिक्ष के समय भूखे मरते हुए लोगों को काम/रोज़गार दिलाने के उद्देश्य से प्रारम्भ किये गए निर्माण का प्रयोजन ताज़ियों का कारखाना बनाना था। यह स्पष्टीकरण कि इमामबाड़ा कारखाने के प्रयोजन से निर्मित हुआ था, बाद का ही विचार है। यह स्पष्टीकरण मुस्लिम शासन में मनगढ़न्त इमामबाड़ा-कथा के साथ जोड़ दिया गया।

फिर भी, एक अन्य असंगति यह है कि ये इमामबाड़े तो वास्तव में ही दफ़नाने का स्थान अर्थात् कब्रिस्तान बने हुए हैं। यदि वे ऐसे स्थान बने होते जहाँ ताज़ियों का निर्माण किया जाना था, तो वे कब्रों के समूह से क्यों भरे पड़े हों, और वह कब्र-समूह भी लखनऊ के, शासक-घराने के, सम्माननीय भद्र-पुरुषों की कब्रों का ही हो! क्या अपने वार्षिक काम-काज में तल्लीन हजारों कारीगर, ताज़ियों का निर्माण करते समय, उन कब्रों को अपने पैरों तले नहीं रौंदेंगे?

ताज़ियों के कारख़ानों के रूप में भी इन इमामबाड़ों का रूप एक विशाल महाकक्ष—बड़े कमरे—का ही होना चाहिए था। किन्तु ये इमामबाड़े तो बहु-मंज़िले भवन है जिनमें जटिल, पेचीदे तलघर हैं। बड़ा इमामबाड़ा चार मंज़िला भवन है जिसमें एक तलघर, एक निम्न-तल और दो ऊपरी मंज़िले हैं। ऊपरी दो मंज़िलों में कमरों की एक भ्रान्तकारी शृंखला है जहाँ पहुँचकर व्यक्ति

खो जाता है। इन इमामबाड़ों में बड़े विशाल खुले प्रांगण भी है जो मोटी-मोटी दीवारों से घिरे हुए है जिनके विभिन्न कोणों पर उच्च, विशाल, भारी शंकु-आकार द्वार बने हुए हैं जिनमें प्रविष्ट होने पर दर्शक-गण बाहरी अहाते से सबसे अन्दर की सीमाओं में पहुँच जाता है।

इमामबाड़ों मे एक नक्कार-खाना भी है जहाँ नगाड़े बजाए जाते थे। ऐसे नक्कारखाने मात्र हिन्दू राजमहलों और मन्दिरों की ही अनुलग्न वस्तुएँ हैं, मुस्लिम भवनों की कभी भी नहीं, क्योंकि मुस्लिम लोग नक्कार—संगीत—को अभिशप्त, वर्जित मानते हैं। इस्लामी दिनचर्या में पांच बार प्रार्थना करना—नमाज़ पढ़ना अपेक्षित है। इसलिए, किसी भी समय नगाड़े बजने से किसी-न-किसी की नमाज़ पढ़ने में बाधा पड़ने की पूर्ण सम्भावना है, और यही कारण है कि नक्कारखाने किसी भी मुस्लिम सार्वजनिक भवन के अंश कभी भी नहीं होते। अतः जब लखनऊ के इमामबाड़ों में अत्युच्च दु-मंजिले नक्कारखाने बने हुए हैं, तब यह स्पष्ट संकेत है कि तथाकथित इमामबाड़े हिन्दू राजभवन थे।

तथापि, वास्तविकता यह है कि इमामबाड़े भवन-संकुल है जिनमे मुख्य सदनों और नक्कारखानों के अतिरिक्त अनेक अन्य भवन भी सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए, बड़े इमामबाड़े के साथ ही एक विशाल कूप है जिसकी चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ नीचे जल तक गई है, और उस कूप के चारों ओर बहुमंजिले कक्ष हैं। केन्द्रस्थ कूप न केवल प्रकाश और वायु के लिए खुला स्थान ही है, अपितु यह समस्त कक्षों—कमरों को भी आनन्ददायक शीतलता प्रदान करने में सहायक होता है। सम्पूर्ण भारत में हिन्दू राज-भवन-संकुलो में ऐसे कूपों की विद्यमानता एक सामान्य लक्षण है।

कूप के चारों ओर महल-जैसे भव्य कमरों के अतिरिक्त, इसी के सामने एक अन्य भवन भी है। उस भवन को आजकल मस्जिद के नाम से पुकारा जाता है। किन्तु यह भवन इतना भव्य है कि मस्जिद के रूप में पूर्णतः अनुपयुक्त है। यह एक उत्तुंग, दु-मंजिला प्रासाद है जिसके मध्य में एक शिखर है और सामने चौड़ी व्यापक प्रस्तर सीढ़ियाँ हैं। इसका शिखर, जिस पर कलश भी विराजमान है, पूर्णतः हिन्दू मन्दिर नमूने का है। किसी इमामबाड़े में ऐसे भव्य भवन और एक नक्कारखाना क्यों हो, यदि इसका निर्माण सचमुच ही कागज-बाँस के ताज़ियों के कारख़ानों के रूप में हुआ था?

आइए, हम अब सब असंगतियों का सारांश स्मरण कर लें।

'इमामबाड़ा' शब्दावली का निहितार्थ है कि इस भवन का प्रयोजन इस्लामी पुरोहित के निवास-स्थान से था, किन्तु कभी किसी ने यह दावा नहीं किया है कि लखनऊ के दोनों इमामबाड़ों का प्रयोजन मुस्लिम पुरोहितों के निवास-स्थान से ही था, अथवा इनको वास्तविक रूप में भी कभी पुरोहितों के निवास-स्थान के रूप में ही उपयोग में लाया गया था। जन-विश्वास के अनुसार माना जाता है कि बड़े इमामबाड़े का निर्माण अकाल-पीड़ा से छुटकारा दिलाने वाली परियोजना के रूप में किया गया था, किन्तु हम आगे चलकर यह प्रमाणित करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करेंगे कि इमामबाड़ा तो अकाल के समय से सैकड़ो वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, और नवाब आसफ़उद्दौला अपने ही ऐशो-आराम में अत्यधिक लिप्त था, तथा ऋण में इतनी बुरी तरह से आकण्ठ ग्रस्त था कि वह किसी भी निर्माणकार्य की, स्वयं अपनी ही कीमत पर, कल्पना भी नहीं कर सकता था—सार्वजनिक हित का विचार कर ही नहीं सकता था। उसके लिए तो उसकी प्रजा का अस्तित्व ही उसकी स्वयं की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए था, न कि वह उनके लिए था।

बहुत से लोगों का विचार है कि ताज़ियों के कारखानों और उनके भण्डार-गृहों के रूप में इन इमामबाड़ों का निर्माण किया गया था। किन्तु इस विश्वास को भी इस तथ्य द्वारा झूठा सिद्ध कर दिया जाता है कि ये दोनों इमामबाड़े तो कब्रिस्तान है। इतना ही नहीं, अन्य प्रकार भी, इमामबाड़े, जो विशाल भवन-संकुल है और भारी मोर्चे वाली दीवारों से परिवेष्ठित थे, अनेक मंजिले है—उनमे कमरो की विपुल संख्या है, विशाल पटरीदार प्रांगण है जो स्पष्टतया विचार प्रस्तुत करते है कि वे राजोचित राजनिवास-स्थल थे, न कि बाँस और कागज से ताज़िए बनाने वाले श्रेणी के कारीगरो के लिए कारखाने। इन इमामबाड़ों में अष्टकोणात्मक कमरे है, छतरियाँ है और बुर्ज है जिनका मुस्लिम परम्परा में कोई स्पष्टीकरण नही है। इसके विपरीत, हिन्दू परम्परा में , हिन्दू देवी-देवताओं और राजाओं-महाराजाओं से सम्बन्धित भवनो के अष्टकोणात्मक लक्षण होने अवश्यंभावी, अनिवार्य है क्योंकि मात्र हिन्दुओं में ही आठो दिशाओं के विशेष नाम उपलब्ध है, और उन दिशाओ के आठ अलौकिक रक्षक—अष्ट-दिक्पाल निश्चित है। जैसा कि हम आगे वाले अध्यायों में स्पष्ट कर

देंगे, इमामबाड़ों को मुस्लिम-मूलक मानने वाले न तो इतिहासकारो और न ही सामान्य लोगों के पास कोई ऐसा प्रलेखात्मक अथवा परिस्थिति-साक्ष्य विद्यमान है, जो उनके मत की पुष्टि करता हो, उनका समर्थन करता हो। वे तो सिर्फ़ इतना अनुभव करते है कि उनके अनेक बार दोहराए गए, ये पुराने कथन ही, कि इमामबाड़ों का निर्माण लखनऊ के मुस्लिम नवाबों द्वारा कराया गया था, उनके मूलोद्गम के बारे मे आधिकारिक इतिहास माने जाने के लिए पर्याप्त होने चाहिएँ। ऐसी मान्यताओं की युक्तियुक्तता के बारे में उनका कोई सरोकार नहीं है, उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। विभिन्न असम्बद्धताओं, विसंगतियों और असंगतियों में सामंजस्य स्थापित करने की उनको कोई परवाह नहीं, चिन्ता नहीं।

२

लखनऊ का मुस्लिम-पूर्व इतिहास

यह जन-प्रचलित विश्वास, कि आधुनिक लखनऊ का मूलोद्गम विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा हुआ था, इतिहास की दृष्टि से पूर्णतः निराधार है। इसकी कोई पृष्ठभूमि नहीं है। यह जन-विश्वास तो उस उग्रवादी इस्लामी बलात्-प्रचार की शताब्दियों का परिणाम है जिसके फलस्वरूप सामान्य जनता और प्रतिभाशील व्यक्तियों, दोनों की ही बुद्धि विकृत कर दी गई है और उनकी स्मृति में विपरीत बातें ठूँस दी गई है। आक्रमणकारी व्यक्ति कभी भी हित करने वाले नहीं होते हैं। वे तो किसी नगर पर चढ़ाई करते है, उसे लूटते-खसोटते हैं, निर्धन करते है, और उसको विनष्ट , विध्वंस कर देते हैं। अतः यदि आज का लखनऊ गन्दी बस्तियों, बदबूदार नाले-नालियों और घरों के नाम से पुकारी जानी वाली सड़ाँध भरी मध्यकालीन गन्दी-गन्दी झोंपड़ियों का नगर हो गया है तो यह सर्वनाश कि स्थिति भी लखनऊ पर इस्लामी शासन की शताब्दियों का दुष्परिणाम ही है। हमारे अपने ही युग में पाकिस्तान ने मार्च, १९७१ से दिसम्बर १९७१ की अवधि के मध्य बांग्लादेश में उस नैतिक और शारीरिक सर्वनाश की एक चक्करदार झलकी प्रस्तुत करके दिखाई थी जो उनके वैचारिक पूर्वजों ने अपने एक हज़ार वर्षीय लम्बे शासन में दैनंदिन विध्वंस, लूट-पाट के माध्यम से अवश्य ही भारत में घटित की होगी।

लखनऊ अ-विस्मरणीय प्राचीनता का एक नगर है और इसका मूलोद्गम अति-प्राचीन रामायणकालीन युग तक भी लक्षित किया जा सकता है। सौभाग्य की बात है कि जिला भौगोलिक शब्दकोश (डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर) तथा अन्य अभिलेखों में अभी तक भी हमारे लिए, अति प्राचीन लखनऊ की स्मृतियाँ और परम्पराएँ सुरक्षापूर्वक सँजोयी हुई संग्रहीत रखी है यद्यपि इस्लामी शासन की शताब्दियों लम्बी अवधि में लखनऊ स्थित विदेशी मुस्लिम राज-दरबार ने उस समस्त प्राचीन इतिहास को विस्मृत कर विलुप्त करने का भरसक प्रयत्न किया

और जनता को यह विश्वास दिलाने का यत्न किया कि लखनऊ की स्थापना और उसका इस प्रकार का गौरव-विदेशी इस्लामी आक्रमणकारियों द्वारा ही प्रदान किया जाना सम्भव हो पाया था।

विदेशी शासन द्वारा ढाहे गए विनाश से तो नगर का नाम भी अछूता सुरक्षित नहीं रह पाया है। लखनऊ नाम तो संस्कृत-नाम लक्ष्मणावती उपनाम लक्ष्मणपुर का एक अधूरा, अपभ्रंश रूप ही है। नगर का नाम लक्ष्मण के नाम पर रखा गया है। लक्ष्मण राम का स्वामिभक्त भाई था, जो रावण के विरुद्ध युद्ध में राम के साथ अन्त तक रहा था।

लखनऊ शब्दावली के मूल का एक सूत्र प्राचीन बंगाल की राजधानी से प्राप्त होता है जिसे 'लखनौती' कहा करते थे। संस्कृत भाषा में 'लक्ष्मण' हिन्दी में 'लखन' हो जाता है। अतः जो नाम प्रारम्भ में 'लक्ष्मणावती' था, वह इस्लामी राज्य की विपन्नास्था में विकसित गँवारू, बाजारू भाषा में 'लखनौती' के नाम से उच्चारण किया जाने लगा। हो सकता है कि लखनऊ, जो पहले लक्ष्मणावती था, इससे पूर्व'लखनौती' उच्चारण किया जाने लगा हो। समय बीतते-बीतते अन्तिम अक्षर लोप हो गया और नगर का नाम मात्र 'लखनौ' ही उच्चारण किया जाने लगा, जो अब 'लखनऊ' के रूप में लिखा जाता है।

अन्य विश्वास यह है कि नगर मूल रूप में लक्ष्मणपुर था। उस नाम का उच्चारण 'लखनौर' और फिर 'लखनौ' होने लगा। दोनों ही प्रकार से, यह निश्चित है कि नगर का नाम राम के भाई लक्ष्मण को दृष्टि में ही रखकर रखा गया था। इस सम्बन्ध में, पूर्ण मतैक्य है । सभी का यही मत है।

लखनऊ का इतिहास खोजते हुए अवध प्रान्त के गज़ेटियर में कहा गया है—''''लछमन टीला अर्थात् लछमन-पहाड़ी'''अब ऊँची भूमि है जो मच्छी भवन किले के भीतर ही स्थित है। यहाँ, कहा जाता है कि अयोध्या के राजा रामचन्द्र के भाई लछमन ने, जिसे जागीर में गोगरा तक की विशाल भूमि अनुदान रूप मिली थी, लछमनपुर गाँव की स्थापना की थी जो भावी नगर का मूल था। वह कदाचित्, इस स्थल की पवित्रता से ही इस ओर आकर्षित हुआ था; क्योंकि पहाड़ी की चोटी पर भूमि में एक विवरमुख था जिसमें हिन्दू लोग फूल और जल चढ़ाते थे, अर्पण करते थे, क्योंकि वे कहते ते कि यह विवर शेषनाग अथवा सहस्र-फणी नाग तक जाता था जिसके शीष पर यह विश्व (पृथ्वी) टिकी हुई है।

उसी स्थान पर अब एक मस्जिद बनी हुई है।''[१]

यहाँ 'मच्छी भवन किला' शब्द-समूह विशेष ध्यान देने योग्य है। 'मच्छी' शब्द मछली के अर्थ-द्योतक संस्कृत भाषा के 'मत्स्य' शब्द का अपभ्रंश रूप है। अतः 'मत्स्य भवन' उपनाम 'मछली भवन किला' शब्दसमूह 'मछली भवन' किले का अर्थ-द्योतक है। यही स्पष्टतः वह तथ्य है जो आज के इमामबाड़े हैं। उनके सभी ऊँचे-ऊँचे दरवाजों पर मछली की बड़ी-बड़ी आकृतियाँ बनी हुई हैं, और ध्वस्त भारी परिधीय दीवारें सिद्ध करती हैं कि ये परकोटे किला थे। सामान्य जनता तथा लखनऊ के इतिहास के बारे में जिन विद्वानों ने कुछ लिखा है, वे सभी इस बारे में पूर्णतः गलती पर हैं, यदि उनका विश्वास है कि ये इमामबाड़े मूल-रूप से मुस्लिम ही हैं। वे भवन तो लखनऊ के प्राचीन हिन्दू शासकों के किलेनुमा राजमहल हैं जिनमें उनका राजचिह्न—मत्स्य—विद्यमान है। मुस्लिमों के लिए तो मछली कभी भी राजचिह्न नहीं हो सकता था क्योंकि मुस्लिमों की तो रेगिस्तानी परम्परा है। इतना ही नहीं, रूढ़िवादी परम्परा से मुस्लिमों को सख्त मनाही है कि वे किसी भी जीवित प्राणी का चित्रण, निरूपण न करें। इसमें, उनको, मूर्तिपूजा की गन्ध आती है। इसके विपरीत, मछली अति-प्राचीन रामायणकालीन राजचिह्न है क्योंकि लंका पर आक्रमण करने के लिए जाती हुई राम की सेना ने विशाल समुद्र को पार किया था, जो रामायण का अति महत्त्वपूर्ण प्रसंग है जिसने हिन्दू मानस पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है। अतः, जब गज़ेटियर उल्लेख करता है कि लक्ष्मण-पहाड़ी के पास बना हुआ प्राचीनतम हिन्दू भवन 'मच्छी भवन किला' था, और हम अपने ही समय में पाते हैं कि वही 'मच्छी भवन किला' पहाड़ी के पास आज भी विद्यमान है, इमामबाड़े के छद्म नाम के रूप में, तब क्या यह स्पष्ट नहीं है कि प्राचीन हिन्दू मछली भवन की संरचनाओं को परवर्ती मुस्लिम आधिपत्यकर्ताओं द्वारा नाम-परिवर्तन का शिकार होना पड़ा था।

वह पहाड़ी सन्तरियों के उच्च विराम-स्थान का कार्य करती थी। इसमें एक निगरानी स्तम्भ व मन्दिर है। उसका भी सम्बन्ध हिन्दुओं से ही है, किन्तु जो स्पष्टतः अब मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है। यह प्रचलित जन-विश्वास

---

१. अवध प्रान्त का गज़ेटियर, सन् १८७७ ई०, खण्ड II, पृष्ठ ३६४।

पूरी तरह गलत है कि मूल हिन्दू निर्माण को गिराया जा चुका है, और इसी के स्थान पर एक मुस्लिम मस्जिद बना दी गई है। भारत के अन्य स्थानों की ही भाँति यहाँ भी मूल हिन्दू प्रासाद को ही मस्जिद के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। उस क्षेत्र में भरी पड़ी कब्रें उन मुस्लिम आक्रमणकारियों की हैं जिनको पहाड़ी पर बने सुरक्षा-सन्दूक व निगरानी-स्तम्भ के हिन्दू रक्षकों ने रक्षा करते समय जान से मार डाला था। वहाँ बने मन्दिर में वह पवित्र विवर (छेद) है जिसमें भक्त हिन्दू लोग पृथ्वीमाता को पावन भेंट अर्पण करते हैं। यह भी सम्भव है कि यह विवर-स्थान वही पुण्य-स्थल हो जहाँ भगवान राम की पत्नी, देवी सीता, पृथ्वी माता की गोद में समा गयी थीं। हमारा यह निष्कर्ष रामायण की उस परम्परा से सिद्ध है जो मानती है कि सीताजी की अन्तिम यात्रा के समय लक्ष्मण ही उनके साथ-साथ थे, जिसके पश्चात् सीताजी के आह्वान पर धरती माता ने अपना मुख खोल दिया था और अपनी पुत्री सीता को अपने अंक में सदैव के लिए समा लिया था।

गज़ेटियर में सन्निहित यह धारणा पूरी तरह गलत है कि लक्ष्मण ने तो केवल एक गाँव की स्थापना की थी जो बाद में आधुनिक लखनऊ नगर में विकसित हो गया। कारण यह है कि मत्स्य भवन किला और अन्य प्राचीन हिन्दू संरचनाएँ, जो लखनऊ में बनी हुई हैं, अति विशाल और भव्य हैं जबकि वे भवन, जिनको हम आधुनिक भवन कहते हैं, तुलनात्मक रूप में, अत्यन्त लघु और लड़खड़ाते, ढीले-ढाले हैं। इस प्रकार, यहाँ भी हम इतिहास में पूरी उथल-पुथल हुई पाते हैं। वर्तमान निरानन्द, दोषयुक्त और झोंपड़ियों, गन्दी बस्तियों, नाले-नालियों के रूपहीन समूह के स्थान पर प्राचीन हिन्दू लखनऊ नगर एक वृहत्तर, भव्यतर और सम्पन्नतर नगर था।

लखनऊ के हिन्दू-मूलक होने के बारे में मतैक्य सूचित करने के लिए हम एक अन्य सूत्र का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। हमारा सूत्र एक अन्य गज़ेटियर है जिसमें लिखा है—

''अयोध्या के (राजा) रामचन्द्र के भाई लक्ष्मण द्वारा स्थापित और संस्थापक के नाम पर ही लक्ष्मणावती नामसे पुकारे जाने वाले नगर के स्थान पर ही (वर्तमान) लखनऊ स्थित कहा जाता है। मच्छी भवन किले के भीतर स्थित ऊँची भूमि अभी भी 'लक्ष्मण टीला' कहलाती है। कथा प्रचलित है कि उस समय

भी यह एक अति पुनीत स्थल था; क्योंकि टीले की चोटी के ऊपर धरती में एक छेद था जिसमें हिन्दू लोग पुष्प और जल अर्पण-भेंट करते थे क्योंकि वे कहते थे कि यह छेद शेषनाग अर्थात् हज़ार-फन वाले सर्प तक जाता था जिसने अपने सिर पर सारे जगत् को सँभाला हुआ है।''[2]

उसी गज़ेटियर में आगे उल्लेख है—''स्वयं लखनऊ में ही, पूर्वकाल में ब्राह्मणों और कायस्थों की एक छोटी बस्ती थी जो लक्ष्मण टीला पर तथा उसके आस-पास रहा करते थे। उन्हीं में शेख़ लोग भी रहने लगे थे जो बिजनौर से आए थे। ...इस स्थान से (जहाँ बाद में गोल-दरवाज़ा बन गया) पूर्व की ओर शेख़ों का शासन था। चूँकि उनके घरों के चारों तरफ़ नीम के वृक्ष लगे हुए थे, इसलिए वे 'नीम्बहड़ा' कहलाते थे। ये लोग मच्छी भवन से वासामात्य भवन (रेजीडेन्सी) तक फैले हुए थे।''[3]

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट दर्शाता है कि किस प्रकार प्राचीन लखनऊ के आधुनिक विवरण पूरी तरह अनुचित, दोषपूर्ण और भ्रामक हैं। लखनऊ के परवर्ती विदेशी शासकों, मुस्लिमों ने इसके हिन्दू इतिहास को पूरी तरह से विलुप्त कर दिया। मुस्लिम शासकों के बाद सत्तासीन होने वाले अन्य विदेशी शासकों—ब्रिटिशों ने मुस्लिम-पूर्व लखनऊ के कुछ भ्रमपूर्व वर्णन संग्रह किए और बिना किसी प्रकार का औचित्य-विवेचन किए ही उनको अव्यवस्थित रूप में गज़ेटियर में सम्मिलित कर दिया। उदाहरण के लिए, जब वे यह कहते हैं कि हिन्दू लखनऊ एक ऐसा गाँव था जिसमें ब्राह्मण और कायस्थ नाम की दो जन-श्रेणियाँ मात्र निवास करती थीं, तब वे गलती पर हैं। पूर्वकालिक मुस्लिम वर्णनों ने, हो सकता है, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समुदायों के रूप में उन दो समुदायों का उल्लेख किया हो, क्योंकि विदेशी मुस्लिम शासन उनकी सहायता और उनके मार्ग-दर्शन के अभाव में किसी भी स्तर पर कोई कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य समुदाय उस समय लखनऊ में निवास करते ही नहीं थे। हिन्दू नगर अथवा ग्राम सभी समुदायों से पूर्ण होते हैं। सीधा-सादा कारण यही है कि वे परस्पर आश्रित हैं। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण वह

२. लखनऊ—एक गज़ेटियर, खण्ड ३७, पृष्ठ १३७।
३. वही, खण्ड ३७, पृष्ठ १४२।

पुरोहित-वर्ग है जो अन्य समुदायों के समस्त धार्मिक-कृत्यों को सम्पन्न करता/कराता है। अतः वह अन्य समुदायों के अभाव में जीवन-यापन ही नहीं कर सकता, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। यह मानना कि लखनऊ में मात्र ब्राह्मण (और कायस्थ) ही रहा करते थे ऐसा ही है जैसे यह कहना कि किसी नगर में मात्र पादरी और अन्य ईसाई-धर्माधिकारी ही निवास करते थे जबकि धार्मिक-सभा में एकत्र होने के लिए अन्य समुदाय था ही नहीं।

गज़ेटियर से दिए गए उपर्युक्त उद्धरण में अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बिजनौर से आए शेख़ लोग स्पष्टतः पूर्वकालिक हिन्दू अधिशासी मुखिया लोग थे जो इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो चुके थे। विशेष ध्यान देने योग्य तीसरी बात ''नीम्बहड़ा'' शब्दावली है। कदाचित् यही वह शब्दावली है जिससे इमामबाड़ा अपभ्रंश रूप उतपन्न हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों के 'मारो और भागो' आक्रमणों की अवधि में (बिजनौर के शेख़ों के समान) कई हिन्दू, आतंक और भीषण यातनाओं से, इस्लाम में धर्म-परिवर्तित हो गए थे। रुक-रुक कर होने वाले ऐसे आक्रमणों की अवधि में वहाँ के निवासियों को जब विश्राम का समय मिलता था, तब वे अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में लग जाते थे और अनेक बार पराजित प्रदेश वापस ले लेते थे, अथवा कई बार अधिक भूमि भी हथिया लिया करते थे। इसी पद्धति से बिजनौर के तथाकथित शेख़ भी लखनऊ के प्राचीन मच्छी भवन में आकर रहने लगे थे, जिसको चारों ओर, स्पष्ट है कि, नीम के वृक्ष लगे हुए थे। बिजनौर के पूर्वकालिक हिन्दू शासकों द्वारा इस्लाम-धर्म अंगीकार कर लेने के पश्चात् लखनऊ आने पर संस्कृत-शब्द 'मच्छी-भवन' से कोई सरोकार नहीं रह गया था, उनके लिए इसका कोई उपयोग नहीं था। इसके विपरीत, उन्होंने अपने निवास-स्थान को 'नीम-बाड़ा' अर्थात् नीम के वृक्षों के बीच में निवास-स्थान कहकर पुकारा। समय बीतते-बीतते 'नीम्बहड़ा' शब्दावली का अपना महत्त्व लुप्त हो गया जब लकड़ियों और आक्रमण के हेतु सुविधा की दृष्टि से मुस्लिम और ब्रिटिश आक्रमणों की अवधि में नीम के वृक्ष आहिस्ता-आहिस्ता कटते गए। इससे नीम शब्द को इस्लामी 'इमाम' से बदल देने का अवसर प्राप्त हो गया और भवनों को नीम-बाड़ा के स्थान पर इमाम-बाड़ा कहा जाने लगा। इस विधि से ही प्राचीन मच्छी भवन दुर्ग-युक्त राजभवन विद्यमान होते हुए भी चुपके-से मुस्लिम संज्ञा से अलंकारित

हो गया, और मुस्लिम नवाबों द्वारा इमामबाड़ों को बनाए जाने की असत्य कथा घड़ ली गयी तथा फिर वह जोर-शोर से प्रचालित हो, जन-समुदाय में प्रचलित हो गयी।

इन असत्य बातों में स्पष्टतः विश्वास करने के कारण ही गज़िटियर में आगे कहा गया है—"उन (शेख़ों) का सर्वप्रथम कार्य एक किला बनाना था जो अपनी अति सुदृढ़ता के लिए शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया; यह पिछले मच्छी भवन के स्थान पर ही बना हुआ था, और कहा जाता है कि इसका शिल्पकार 'लिखना' नाम का एक व्यक्ति था जो हिन्दू था, तथा जिसके नाम पर यह स्थान "किला लिखना" कहलाता था। ज्यों-ज्यों शेख़ लोग समृद्ध होते गए और जन-संख्या में बढ़ते गए, त्यों-त्यों उनके चारों ओर एक नगर विकसित होता गया और पुराने लक्ष्मणपुर का नाम-स्थान लखनऊ ने ले लिया। परिवर्तन की इस तारीख का ज्ञान तो नहीं है, किन्तु यह निश्चित बात है कि नया नाम अकबर के दिनों से पूर्व भी अवश्य ही प्रचलित था।"

यह फिर इस तथ्य का ज्वलन्त, नेत्रोन्मेषकारी उदाहरण है कि गज़िटियर का संकलन, सम्पादन करने वाले विद्वान, उनको प्राप्त हिन्दू इतिहास के इस्लामी तोड़-मरोड़ से किसी संगत और ग्राह्य विवरण को समझने, विश्लेषण करने, काँट-छाँट करने और उसे प्रस्तुत करने के किसी भी प्रयत्न में सफल नहीं हुए है—बुरी तरह विफल रहे है। सभी गज़िटियरों में प्रारंभ में ही स्वीकार किया गया है कि लखनऊ का इतिहास रामायण-कालीन युग तक खोजा जा सकता है, व लखनऊ नाम मूल लक्ष्मणपुर उपनाम लक्ष्मणावती का संक्षिप्त रूप है तथा लक्ष्मण-टीले के पास एक 'मच्छी भवन किला' स्थित था। अब अचानक ही, जिस गज़िटियर का उल्लेख हमने अभी-अभी किया है, वह स्वयं ही अपने पूर्व-कथन का खण्डन कर देता है और उल्लेख करता है कि शेख़ों ने, जिनके निवास-स्थान मच्छी भवन से रेज़िडेन्सी तक फैले हुए थे, पूर्वकालिक मच्छी भवन के स्थान पर एक किला बनवाया था। वर्णन में आगे कहा गया है कि किले को बनवाने का आदेश देने वाले स्वामियों के नाम पर किले का नाम होने के स्थान पर इस किले का नाम 'लिखना' नामक अज्ञात शिल्पकार के नाम पर 'किला लिखना' रखा गया था। हमें विश्वास दिलाने के लिए यह भी बताया जाता है कि शेख़ लोग शानदार एकान्त में रहते थे और उन्होंने एक किला भी बनवाया था जिसके पास

उनके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। किन्तु वे ज्यों-ज्यों संख्या में बढ़ते गए, उनके चारों ओर एक नगर विकसित होता गया।

यह सब बिल्कुल बेहूदा बकवास है। गज़िटियर के अपने ही विवरण में एक अति सुग्राह्य और संगत वर्णन के सभी तत्त्व विद्यमान है, यदि इसे ठीक प्रकार से समझा जाए और व्यक्ति मुस्लिमों की असत्य बातों से प्रभावित तथा पथभ्रष्ट न हों। गज़िटियर अनजाने में तथापि अत्यन्त निश्चयपूर्वक, अति सुदृढ़ आधार पर तात्पर्य प्रगट करता है कि एक सुप्रसिद्ध नगर, जो अब लखनऊ नाम से सर्वज्ञात है, रामायणकालीन युग से प्रादुर्भूत हुआ है। इसमें किलेदार राजमहल थे जो मच्छी भवन कहलाते थे। मच्छी भवन निकटवर्ती नगर और टीले का नाम लक्ष्मण से व्युत्पन्न है। काल्पनिक शिल्पकार स्वयं लक्ष्मण के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। हिन्दू पौराणिकता के प्रति ज्ञात घृणा और घोर असम्बद्धता—उदासीनता रखने वाले आक्रमणकारी मुस्लिमों ने, रामायण के नायक लक्ष्मण को भुलाते हुए, नगर का निर्माण श्रेय किसी काल्पनिक शिल्पकार 'लिखना' को दे दिया। गज़िटियर का संकलन-संपादन करने वाले विद्वानों को यह अनुभव करना चाहिए था कि भवनों और नगरों के नाम कभी किसी शिल्पकार के नाम पर नहीं रखे जाते। स्वामी अपने ही नाम पर भवनों के नाम रखते है। यदि ऐसा नहीं होता तो विश्वभर के सभी भवन, सभी युगों में शिल्पकारों के नाम पर ही पहचाने जाते। किन्तु कदाचित् विश्व का एक भी भवन शिल्पकार के नाम पर जाना-पहचाना नहीं जाता जिसका सीधा-सादा कारण यही है कि शिल्पकार भी उन अन्य बहुत सारे कारीगरों में से एक होता है जिसको भू-स्वामी अपना भवन, मन्दिर, राजमहल या किला बनाने के लिए किराए (भाड़े) पर नौकर रखता है। स्वामी, जिन सैकड़ों अथवा हजारों व्यक्तियों को अपना भवन-निर्माण करने के लिए मज़दूरी पर रखता है, अपने भवन के नामकरण के लिए उनमें से केवल एक शिल्पकार ही क्यों चुनेगा? किसी अत्यन्त ख्यातिप्राप्त व्यक्ति का प्रपितामह भी कभी यह नहीं विचार करेगा कि वह अपने भवन-निर्माण के लिए लाखों रुपए व्यय करे और फिर उस भवन का नाम, भाड़े पर रखे गए अपने किसी शिल्पकार के नाम पर रख दे।

एक अन्य सरकारी प्रकाशन में उल्लेख किया गया है—'लखनऊ प्राचीन लक्ष्मणावती कहा जाता है। उसी पौराणिक (रामायणकालीन) युग से उस लक्ष्मण (लछमन) टीले का सम्बन्ध बताया जाता है, जो विध्वस्त मच्छी भवन किले की

सुरक्षा-प्राचीरों के भीतर ऊँची भूमि है। महान् इमामबाड़ा, किफायत-उल्लाह नामक शिल्पकार की योजना के अनुसार सन् १७८४ ई० में आसफ़उद्दौला द्वारा बनवाया गया था, और उसकी मृत्यु के बाद उसे इसी में दफ़ना दिया गया था।''[४]

पूर्वोक्त अवतरण की यह धारणा गलत है कि प्राचीन हिन्दू मच्छी भवन किला गिराया गया था। यह अभी भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है, मात्र इसका नाम 'इमामबाड़ा' कर दिया गया है। इसका, सत्यापन स्वयं ही इस तथ्य से सिद्ध किया जा सकता है कि इमामबाड़े के नाम से ज्ञात इस भवन-संकुल के उत्तुंग द्वारों पर मच्छी की बड़ी-बड़ी आकृतियाँ बनी हुई है। ध्वस्त किलेबन्दी अभी भी देखी जा सकती है। सरकारी प्रकाशन भी यह स्पष्टीकरण देने में असमर्थ है कि तथाकथित निर्माता नवाब आसफ़-उद्दौला को उस विशाल इमामबाड़े में ही क्यों दफ़ना दिया गया, मात्र ग्यारह वर्ष पूर्व ही जिस भवन का निर्माण स्वयं उसी ने करवाया था। क्या क्षयिष्णु नवाब के पास इतना धन बरबाद और जलाने के लिए उपलब्ध था कि जिस विशाल प्रासादीय भवन का निर्माण अभी कुछ समय पूर्व ही करवाया हो, उसी को तुरन्त खेद-सूचक कब्रिस्तान में परिवर्तित कर दिया जाए?

एक अन्य सरकारी प्रकाशन ने पर्यवेक्षण किया है—''इस नगर का नाम लक्ष्मण से व्युत्पन्न कहा जाता है। कुछ लोग इसके नाम का मूलोद्गम 'लखना' नामक हिन्दू शिल्पकार में खोजते है जो जौनपुर के मुस्लिम शासकों द्वारा मध्यकालीन लखनऊ के निर्माणार्थ नियुक्त किया गया था। नगर के सबसे पुराने भाग में महान् इमामबाड़ा स्थित है—इसे छोटे इमामबाड़े से पृथक् रूप में पहचाना जा सकता है। एक इमामबाड़ा वह भवन है जिसमें मुहर्रम का त्यौहार समारोहपूर्वक मनाया जाता है, और अली व उनके पुत्र हसन तथा हुसैन की मृत्यु की स्मृति में धार्मिक सेवाओं का आयोजन किया जाता है। यह 'बड़ा इमामबाड़ा' सन् १७८४ में नवाब आसफ़-उद्दौला द्वारा, अकाल से पीड़ितों को राहत दिलाने के लिए बनवाया गया था। यह लम्बा-चौड़ा और अत्यधिक सरल भवन किफ़ायत उल्लाह नामक शिल्पकार द्वारा तैयार किया गया था। उसी बस्ती में पश्चिम की ओर बना—एक सुन्दर दरवाज़े—रूमी दरवाज़े अथरा तुर्की दरवाज़े के बाहर

४. पृष्ठ २६५-६६, खण्ड XII (नयी शृंखला), भारत का पुरातत्वीय सर्वेक्षण, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त व अवध, खण्ड II, स्मारकीय ऐतिहासिक अवशेष एवं शिलालेख।

वाला छोटा इमामबाड़ा बाद का निर्माण है, और अधिक अलंकृत इमामबाड़ा है जो मुहम्मदअली शाह (सन् १८३७-४२) द्वारा बनवाया गया था।''[५]

पूर्वोक्त अवतरण में अनेक दोष प्रस्तुत किए जा सकते है। इसमें अपनी मत-धारणा के समर्थन में किसी प्राधिकरण का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें यह नहीं बताया गया कि आसफ़-उद्दौला को ताजियों के कारखाने के रूप में काम में लाने के लिए एक भवन बनवाने की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी? इससे पूर्व के शासनकाल में ताज़िये कहाँ बनाए जाते थे? और यदि उन भवनों का प्रयोजन ताज़ियों के कारखानों से ही था, तो वे 'इमामबाड़े' अथवा 'इमामों के निवास-स्थान' क्यों सम्बोधित किए जाते है? साथ ही, यदि वे ताज़ियों के रूप में ही बने थे और इमाम-निवास-स्थान के रूप में 'इमामबाड़े' सम्बोधित किए जाने लगे थे, तो क्या कारण है कि निर्माण के मात्र ग्यारह वर्षों बाद ही इसमे इसके निर्माता— नवाब आसफ़-उद्दौला को भी दफ़ना दिया गया था? और इस स्थान में एक विशाल भवन-संकुल क्यों समाविष्ट है? नवाब आसफ़-उद्दौला स्वयं उस समय कहाँ निवास करता था जब उसने निम्नश्रेणी ताज़िया-निर्माताओं को एक भव्य, विशाल राजोचित, भवन-संकुल बनाने का काम सौंपा हुआ था? 'रूमी दरवाज़ा' नाम तो 'राम-द्वार' नामक विशाल दरवाजे के नाम पर चुपके से चतुराईपूर्वक घड़ लिया गया है। यह 'राम-द्वार' नाम लक्ष्मण ने अपने आदर्श भाई राम के नाम पर रखा था।

कीन नामक एक ब्रिटिश इतिहासकार ने भली-भाँति दर्शाया है कि अवध के मुस्लिम नवाब और उनकी जी-हजूरी करने वाले लोग हिन्दू सम्पत्ति को हड़प लेने और उसके ऊपर अपना नाम थोप देने के नित्य-अभ्यासी थे। उसने लिखा था—''प्राचीन अयोध्या नामक नगरी में, जिसे विदेशी मुस्लिम विजेताओं ने फैज़ाबाद नाम दे रखा है, हिन्दुओं द्वारा 'गणेश-कुण्ड' पुकारा जाने वाला एक छोटा तालाब मुसलमानों द्वारा हुसैन कुण्ड अथवा इमाम तालाब कहा जाता है, क्योंकि उनके ताज़िए प्रतिवर्ष वहीं पर ठण्डे किए जाते है।''[६]

गणेश हिन्दू देव है। उनके नाम मे प्रतिष्ठित और निर्मित हिन्दुओं द्वारा

५. पर्यटक यातायात शाखा, परिवहन मंत्रालय, भारत सरकार, मार्च, १९५४ (की ओर से जारी किए गए)—लखनऊ—पृष्ठ ४-७।
६. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ४२।

संरचित एक अतिप्राचीन कुण्ड मुस्लिम नवाबों द्वारा 'इमाम कुण्ड' नाम से पुकारा जाने लगा था। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू मत्स्य भवन (मच्छी भवन) राजमहल-दुर्ग संकुल को भी हथिया लिया गया हो और 'इमामबाड़ा' मुस्लिम नाम दे दिया गया हो।

कीन ने यह भी लिखा है—"मूल गढ़ी वर्तमान मच्छी भवन किले की नाभि-केन्द्र है, और तथाकथित प्रस्तर-पुल का मार्ग इसी के अंतर्गत है। हिन्दू परम्परा का कहना है कि यह स्थान राम के भाई (लक्ष्मण) द्वारा स्थापित किया गया था।"[७]

मत्स्य भवन उपनाम मच्छी भवन एक संस्कृत नाम होने के कारण यह स्पष्ट होना ही चाहिए कि जिसको कीन और अन्य लोग मूल (हिन्दू) गढ़ी, परवर्ती मच्छी भवन और आधुनिक इमामबाड़े सम्बोधित करते है, वे उसी एक प्राचीन भवन-संकुल के तीन विभिन्न नाम हैं जिसको लखनऊ के विदेशी मुस्लिम शासकों ने अपने उपयोग हेतु हथिया लिया था।

दरबारी चापलूसों और मुस्लिम उग्रवादियों ने पत्थर के पुल का निर्माण-श्रेय भी, गलत ही, आसफ़-उद्दौला को दे दिया है, जबकि यह एक अति प्राचीन निर्मिती है क्योंकि मत्स्य भवन किले के अन्तर्गत ही इसका मार्ग था, जैसा कि कीन ने ऊपर कहा है। बंगलों और पुल की मेहराब के खम्भों पर बने हुए छत्र नितान्त प्राचीन हिन्दू शैली के है, जिनमें किसी भी मुस्लिम शैली का रंग मात्र भी चिह्न नहीं है। इस पुल के सम्बन्ध में कीन ने, मुस्लिमों की झूठी कथाओं में विश्वास करते हुए, लिखा है—"यह पुल आसफ़-उद्दौला की नवाबी में सन् १७८० ई० के लगभग बनाया गया था।"[८]

इतिहास के किसी भी गम्भीर अध्येता को ऐसी अस्पष्ट टिप्पणियाँ पसन्द नहीं होनी चाहिएँ। पहली बात तो यह है कि कीन यह भी तो नहीं कहता कि स्वयं नवाब ने ही यह पुल बनाया/ बनवाया था। इसे किसी अन्य व्यक्ति ने नवाब आसफ़उद्दौला की शासनावधि में बनवाया था। उस तीसरे व्यक्ति को सार्वजनिक उपयोग का एक पुल बनवाने में क्या स्वार्थ अथवा अधिकार प्राप्त था? साथ ही,

---

७. कीन की निर्देशिका पृष्ठ ४८।
८. वही, पृष्ठ ५०।

क्या उस अन्य पुरुष के पास स्वयं नवाब से भी अधिक धन संग्रहीत था कि वह किसी सार्वजनिक उपयोगिता के हेतु व्यय कर सके? हमें यह भी आश्चर्य होता है कि क्या ऐसे पुल का रूप-रेखांकन और निर्माण भी मात्र एक ही वर्ष में सम्पन्न हो सकता है? स्वयं निर्माण की तारीख के सम्बन्ध में भी इतिहासकार लोग अस्पष्ट, अनिश्चित हैं। कीन केवल इतना ही कहता था कि यह पुल सन् १७८० ई० के "लगभग" बनाया गया था। लगभग क्यों? इसका कोई अभिलेख क्यों नहीं है जबकि यह घटना मात्र २०० वर्षों की भी नहीं है और जबकि नवाब ब्रिटिश लोगों की निरन्तर निगरानी और दासता में रहा है? यदि नवाब आसफ़-उद्दौला ने पुल के निर्माण पर सचमुच ही लाखों रुपये खर्च किये थे, तो दरबार से सम्बन्धित किसी ब्रिटिश कर्मचारी को तो पुल के निर्माण करने की बात अवश्य लिखनी चाहिए थी। यदि ऐसा होता, तो इस पुल के निर्माण की तारीख के बारे में कोई अनिश्चितता नहीं होनी चाहिए थी। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आसफ़उद्दौला एक कुख्यात विलास-प्रिय व्यक्ति था। वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारी कर्जे में फँसा हुआ था और अपना बकाया भारी कर्जा चुकाने के लिए कुछ और समय की मोहलत सदैव माँगता रहता था। ऐसी परिस्थितियों में क्या वह सचमुच सन १७८० में पुल के निर्माण पर लाखों रुपये व्यय कर सकता था, और फिर सन् १७८४ में एक काल्पनिक इमामबाड़े पर भी विपुल धनराशि लुटा सकता था? और यदि उसने सचमुच ही ऐसा किया था, तो क्या उसके उन दावों को प्रमाणित करने के लिए सैकड़ों दस्तावेज़ उपलब्ध नहीं होने चाहिएँ?

हिन्दू मत्स्य भवन की स्थिति और उसके मूलोद्गम के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मन में व्याप्त संभ्रम का एक सूत्र हमें कीन के उपर्युक्त पर्यवेक्षण से प्राप्त होता है। वह कहता है कि मत्स्य भवन "लछमन टीले पर नाग-घर के स्थल पर धर्मान्ध बादशाह औरंगजेब द्वारा बनवाया गया भवन है..और वह किला है...जिसे कर्नल पामर ने ध्वस्त कर दिया था।"[९]

यदि औरंगजेब को धर्मान्ध स्वीकार किया जाता है, तो वह अपने द्वारा बनवाए हुए भवन को 'मत्स्य भवन' जैसा संस्कृत नाम क्यों देता? एक धर्मान्ध मुस्लिम के नाते वह, मछली की आकृति-चित्रण और संस्कृत भाषा, दोनों का ही

---

९. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६७।

कट्टर विरोधी था। साथ ही, औरंगजेब से पूर्व अनेक अधिक धर्मान्ध और बर्बर मुस्लिम हो चुके थे जिन्होंने बारम्बार प्राचीन हिन्दू लखनऊ को पैरों तले रौंदा था। औरंगजेब से बहुत समय पूर्व ही लक्ष्मण पहाड़ी पर बने हिन्दू-भवन को एक मुस्लिम मस्जिद में परिवर्तित किया जा चुका था। यदि वहाँ दिखाई देने वाले भवन में आज किसी आधुनिकता का सम्मिश्रण दिखाई देता है, तो उसका कारण यह है कि एक ब्रिटिश सेना अधिकारी कर्नल पामर ने उस भवन को ध्वस्त, क्षतिग्रस्त कर दिया था जब उसने वहाँ मोर्चा बाँधे मुस्लिमों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की थी। कीन की टिप्पणी यह भी स्पष्ट कर देती है कि 'मत्स्य भवन किला' शब्दावली परिपूर्ण भवन संकुल की द्योतक है जिसमें पहाड़ी की तलहटी में फैले हुए विशाल भवन संकुल से लेकर छोटी पहाड़ी की उठान पर काक-घोंसले की भाँति मन्दिर-एवं-निगरानी स्थल तक, सभी सम्मिलित हैं। यद्यपि औरंगजेब और उससे पूर्व के अनेक लोगों ने इन संरचनाओं के निर्माण और पुनर्निर्माण करने के दावे किए हैं तथापि चूँकि मच्छीभवन नाम चला आ रहा है, इसलिए स्पष्ट है कि वे दावे झूठे हैं। साथ ही, वे दावे प्रमाणहीन चले आ रहे हैं। दावे करने वाले किसी भी व्यक्ति ने न तो किसी प्राधिकरण का ही उल्लेख किया है, और न ही किसी दस्तावेज को प्रस्तुत किया है। इन परिस्थितियों में, 'मच्छी भवन' संस्कृत शब्द-समूह, सभी भवनों पर मछलियों की वास्तविक आकृतियों के रूप-रेखांकनों की उपस्थिति और अष्टकोणात्मक कमरों व छत्रों जैसे अन्य हिन्दू लक्षणों की विद्यमानता स्पष्ट प्रमाण है कि तथाकथित इमामबाड़े प्राचीन हिन्दू निर्माण है जो मुस्लिम स्वामित्व में चले गए।

लखनऊ नगर के बीच में से बहने वाली गोमती नदी के ऊपर बने प्राचीन पुल के बारे में मुस्लिम दावों की असत्यता का प्रदर्शन हमारे सम्मुख एक ब्रिटिश लेखक मेजर एण्डर्सन ने अनजाने ही कर दिया है। जैसाकि हम पहले ही कह चुके है वह पुल अति प्राचीन हिन्दू संरचना है। किन्तु लखनऊ और उसके आसपास की प्रत्येक वस्तु का निर्माण-श्रेय स्वयं को देने वाले अपहरणकारी मुस्लिमों ने इस पुल का निर्माण-श्रेय भी अपने को ही दे दिया । सामान्य विश्वास यह है कि नवाब आसफ़ उद्दौला ने अथवा उसकी ओर से किसी अन्य व्यक्ति ने इस पुल का निर्माण सन् १७८० में करवाया था। मेजर एण्डर्सन ने लिखा है—''गोमती नदी पर बना हुआ पत्थर का पुल, यद्यपि मूल रूप में बहुत सुन्दर निर्माण था, सन्

१८१४ में अत्यन्त खस्ता, जीर्ण-शीर्ण हालत में था। मैंने अपना आश्चर्य व्यक्त किया कि नवाब ने इसकी मरम्मत क्यों नहीं करवायी थी। मुझे बताया गया कि बादशाह सलामत को पक्का विश्वास था कि यदि उसने पुल की मरम्मत कराई तो उसकी मृत्यु होनी निश्चित थी।''[१०]

यदि पुल का निर्माण वास्तव में ही सन् १७८० में किया गया था, तो वह कभी भी सन् १८१४ में ही पूरी तरह जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता था। यह पर्याप्त प्रमाण कि ''सुन्दर'' पुल प्राचीन हिन्दू संरचना थी। मात्र हिन्दू परिरेखाएँ ही वैसी अलंकृत हैं जैसाकि पुल था। मुस्लिम दरबार के चापलूसों द्वारा निरीह एण्डर्सन को भी धोखा दिया गया था कि नवाब को आशंका थी कि यदि उसने पुल की मरम्मत करायी, तो किसी विचित्र विपदवश उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

नवाब द्वारा पुल की मरम्मत न कराने के वास्तविक कारण दो हैं। पहला कारण यह है कि स्वेच्छाचारियों की भाँति नवाबों की मान्यता थी कि जनता का ही कर्त्तव्य था कि वह नवाबों के आसक्तिपूर्ण जीवन-प्रकार की सभी इच्छाओं को पूरा करे जबकि नवाबों का काम नहीं था कि वह जनता की किसी भी इच्छा को पूरा करें। दूसरा कारण यह है कि लखनऊ के निवासियों की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग घोर घृणित 'काफ़िर' होने के कारण जन-कल्याण के किसी भी कार्य पर धन व्यय करने वाले नवाब लोग अन्तिम व्यक्ति ही होते। किन्तु चूँकि यह भद्रता और चतुराई सिद्ध न होती यदि वास्तविक कारणों को स्पष्ट कर दिया जाता, इसलिए नवाब ने मिथ्या बहाना बना लिया और पुल की मरम्मत में आना-कानी का स्पष्टीकरण यह कर दे दिया कि उसको विचित्र भविष्य-संकेत हुआ था।

लखनऊ के ५० छवि-चित्रों वाली एक पुस्तक में हमें बताया जाता है, ''कहा जाता है कि लखनऊ नगर लगभग ६० ग्रामों के मलवे के स्थान पर बसा है। उन ग्रामों में से अनेक के नाम अभी भी उन मोहल्लों के नाम से परिलक्षित किये जा सकते है जो उनके ही नामों पर पहचाने जाते हैं। एक परम्परा है कि फैजाबाद अथवा अयोध्या और लखनऊ, जो परस्पर लगभग ७० मील की दूरी

---

१०. मेजर ए०टी० एण्डर्सन विरचित ''लखनऊ का एक संक्षिप्त इतिहास'', पृष्ठ ५।

पर स्थित है, किसी समय छोटे-छोटे उप-नगरों की श्रृंखला से संयुक्त थे जिससे एक निरन्तर और विशाल नगर दिखाई देता था। अन्य परम्परा का कहना है कि दोनों नगर विगतकाल में एक गुप्त भू-गर्भीय मार्ग द्वारा जुड़े हुए थे, जिसकी जानकारी केवल अवध के राजाओं को ही थी।"[११]

उपर्युक्त उद्धरण इस बात का एक अच्छा दृष्टान्त है कि लखनऊ के सम्बन्ध में लिखने वाले एक के बाद एक लेखक ने नगर की प्राचीनता के बारे में उपलब्ध अत्युत्तम साक्ष्य का विश्लेषण करने में स्वयं को मात्र इसलिए विफल पाया है कि वह उग्रतावादी मुस्लिमों के दावों से स्वयं धोखा खा गए। उपर्युक्त अवतरण में, सर्वप्रथम , यह असत्य अनुमान कर लिया जाता है कि प्राचीन हिन्दू लखनऊ एक नगण्य उप-नगर मात्र था किन्तु साठ ग्रामों से घिरा हुआ था और आज का लखनऊ उन सभी साठ ग्रामों को स्वयं में समेटे हुए है, उन अपनी विभिन्न बस्तियों के रूप में, जिनके नाम उन्हीं ग्रामों पर रखे गए हैं। फिर, अकस्मात एक घुमाव के साथ लेखक निहित-भाव प्रगट करता है कि प्राचीन हिन्दू लखनऊ स्वयं न केवल अति भव्य, सुदूर तक विस्तृत महानगर था अपितु ७० मील से अधिक विस्तृत कल्पनातीत नगर-संकुल था जो प्राचीन अयोध्या नगर से जुड़ा हुआ था। ये दोनों नगर एक भू-गर्भीय मार्ग से भी जुड़े हुए थे। यह पूरी तरह स्वीकार्य, मान्य बात है कि अयोध्या और लखनऊ एक लम्बा नगर संकुल बनाते थे जो ६० उपनगरीय बस्तियों के पार तक विस्तृत था।

प्राचीन हिन्दू भारत में उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक भवन-निर्माण की ऐसी अटूट श्रृंखलाएँ अवश्य ही थीं जिनमें कूप, सराएँ, जागीर-सम्बन्धी भवन और सम्पदाएँ, राजप्रासाद तथा किले सम्मिलित थे। यह तथ्य न केवल उपर्युक्त अवतरण से अपितु अन्य साक्ष्य से भी प्रत्यक्ष है। उदाहरण के लिए, मुगलकाल में भारत प्रवास पर पधारे एक ब्रिटिश प्रवासी ने कहा था कि आगरा और फतहपुर सीकरी जो २३ मील के अन्तर पर है, मकानों और दुकानों की अटूट श्रृंखला में जुड़े हुए थे।

चूँकि अयोध्या राम की राजधानी थी और लखनऊ उनके भाई लक्ष्मण की राजधानी, अतः यह स्वाभाविक ही था कि ये दोनों परस्पर सम्बद्ध जुड़ी हों।

११. लखनऊ, एलबम, पृष्ठ ५।

लखनऊ की विभिन्न बस्तियाँ साठ ग्रामों के नाम पर हैं/थीं यह इस बात का द्योतक है कि वहाँ कभी ग्राम थे ही नहीं, और लखनऊ स्वयं प्राचीन हिन्दू युग से ही ६० उपनगरों वाला एक बड़ा नगर रहा है। तथ्य तो यह है कि इस्लामी अपहरणप्रिय हमलों की शताब्दियों ने ही तो उन समृद्ध उप-नगरों को निर्धन और ध्वस्त कर दिया, तथा उनको अकिंचन, अकथनीय गन्दी बस्तियों में परिवर्तित कर दिया।

३

मुस्लिम शासन के अन्तर्गत लखनऊ

तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों को भी यह तर्क करते हुए सुनकर अत्यधिक हार्दिक आघात पहुँचता है कि लखनऊ का मूलोद्गम मात्र विदेशी मुस्लिमों के कारण ही है क्योंकि हम उन लोगों के आगमन से पूर्व यह सुनते ही नहीं हैं कि लखनऊ किसी हिन्दू शासक के राज्य की राजधानी अथवा उसका कोई भाग रहा था। ऐसे लोग यह अनुभव नहीं करते अथवा भुला देते है कि एक हजार वर्ष की लम्बी अवधि तक भारत विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों की अभूतपूर्व तोड़-फोड़, लूट-खसोट का शिकार रहा है। ऐसी परिस्थितियों में विधिवत् अभिलेखों की आशा, प्रतीक्षा करना क्या युक्तियुक्त है, संगत बात है। यदि किसी परिवार को उसके पूर्वजों के मकान से शत्रु लोग निकाल दें और १,००० वर्षों तक स्वयं उस मकान पर अपना अधिकार रखें, तो उस परिवार को वापस उस मकान में आने पर क्या मिलेगा? उस परिवार को मात्र टूटे-फूटे सन्दूक और अति ध्वस्त, क्षतिग्रस्त मकान ही तो मिलेगा। इसके सभी अभिलेखों को जला दिया गया होगा, अथवा अन्य प्रकार विनष्ट कर दिया गया होगा।

ऐसे सन्दर्भ में किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व व्यक्ति को चाहिए कि वह साक्ष्य के प्रत्येक अंश को अत्यधिक सतर्कतापूर्वक एकत्र करे, उनकी छान-बीन करे और उनको व्यवस्थित करे। व्यक्ति को ठण्डे दिल से सोचने-समझने पर अनुभव हो जाएगा कि मामला ही पूरी तरह से, उलट-पुलट कर दिया गया है। मुस्लिम-पूर्वकालीन लखनऊ-मूलोद्गम का यद्यपि प्रचुर-मात्रा में साक्ष्य विद्यमान है, तथापि इस बात का शून्य साक्ष्य ही उपलब्ध है कि जिसे हम 'आधुनिक लखनऊ' कहते है उसको मात्र विध्वंस और लूट-पाट के अतिरिक्त इसके मुस्लिम शासकों ने उसमें कोई योगदान नहीं किया है।

हम इससे पूर्व के एक अध्याय में पहले ही लिख आए है कि लखनऊ नाम स्वयं ही हिन्दू-मूलक है। इसमे गोमती नदी के ऊपर एक अत्यधिक आकर्षक

पत्थर का पुल बना हुआ था (और अभी भी बना हुआ है)। उस पुल तक जाने का मार्ग प्राचीन मच्छी भवन किले द्वारा पूरी तरह सुरक्षित है। उस मच्छी भवन किले की अभी भी विद्यमानता इस तथ्य से प्रत्यक्ष है कि तथाकथित इमामबाड़ों पर अभी भी मछलियाँ सुशोभित है। अतः हम जिनको मुस्लिमों द्वारा निर्मित इमामबाड़े विश्वास करते है वे प्राचीन हिन्दू राजभवन-संकुल के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिनका निर्माण-स्वामित्त्व भी मुस्लिम विजेताओं ने, अपहरण-पश्चात् स्वयं को दे दिया था। यह कथन तो सुपरिचित प्रपंच है कि प्राचीन हिन्दू मच्छी भवन नष्ट कर दिया गया था और ठीक उन्हीं परिरेखाओं पर मुस्लिमों ने इन इमामबाड़ों का निर्माण कर डाला था। इसी प्रकार के साग्रह कथन (जिन्हें झूठा सिद्ध किया जा चुका है) आगरा स्थित ताजमहल और लालकिले के बारे में भी किए गए हैं। प्रत्येक बार यही विचार कल्पना में लाया गया है कि आक्रमणकारी विदेशी मुस्लिमों ने पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों को नष्ट, ध्वस्त किया था और उन्हीं के स्थान पर अपने भवनों का निर्माण कर लिया था। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि इन्जीनियरी और अर्थशास्त्र, दोनों ही दृष्टि से, यह बात बेहूदा ही है। किसी पूर्वकालिक भवन को गिराने , तमाम मलवे को अन्यत्र ढोकर ले जाने, पुरानी नींव को उखाड़ने और फिर अपना भवन निर्माण प्रारम्भ करने से सस्ता तो यही है कि किसी खुले भू-खण्ड पर एक नया भवन बनवा लिया जाए।

जिस प्रकार लखनऊ हिन्दू नाम है, उसी प्रकार मच्छी भवन पूरी तरह संस्कृत शब्द है। संस्कृत मे मच्छी उपनाम मत्स्य का अर्थ मछली है, और भवन का अर्थ इमारत है। इसके अतिरिक्त, मछली एक राजोचित हिन्दू राजचिह्न विख्यात ही है। दक्षिण भारत में बहुत सारे हिन्दू राजवंश ज्ञात है जिनका राजचिह्न मछली था। मछलियाँ मुस्लिम पश्चिम एशिया के रेगिस्तानो मे मिलती नहीं है। इसी के साथ-साथ, कुरान और इस्लामी परम्परा में मूर्तिकरण न करने का कठोर प्रतिबन्ध है। इसके विपरीत, हिन्दू-परम्परा में मछली को परमश्रद्धा का स्थान प्राप्त है। चाहे इसका कारण मात्र इतना ही है कि हिन्दुओं का विश्वास है कि ईश्वर ने सर्वप्रथम मत्स्य रूप मे ही अवतार लिया था। हिन्दू-राजतिलक समारोहों में मछली अपरिहार्य, अपरित्याज्य है। हिन्दू सम्राट् शिवाजी के राज्यारोहण के वर्णन में मत्स्याकृति का नाम उन वस्तुओं में विशेष रूप से उल्लेख किया गया है जो उनके राज्यारोहण के अवसर पर प्रस्तुत की गई थीं। हिन्दू परम्परा में अष्टमंगल अर्थात् शुभ आठ पदार्थों में मछली

की गणना भी की जाती है। किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की जो बात है वह यह है कि इन इमामबाड़ों में अन्य प्रतिमाएँ भी है जो हिन्दू परम्परा में पवित्र मानी जाती है; यथा गाय व दूध पीता हुआ उसका बछड़ा और आलौकिक रूप—जिनको यक्ष कहते है। इन तथाकथित इमामबाड़ों को मुस्लिम संरचनाएं घोषित करने वाले भ्रामक प्रचार की शताब्दियों से सम्मोहित दर्शक इन सभी पारदर्शक, स्पष्ट, दृश्यमान साक्ष्य को देखने में विफल रहते है। मुस्लिम लोग इन सभी और अष्टकोणी बुर्जों, छतरियों व कमरों जैसी अनेक वस्तुओं की विद्यमानता का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने में मूक हो जाते है।

अतः पाठकों को लखनऊ के कल्पित मुस्लिम-मूलक होने के बारे में अपनी पूर्वकालिक धारणाओं—कल्पनाओं को त्याग देने और इस पुस्तक में दिए गए साक्ष्य को किसी प्रकार के आग्रहहीन, नूतन दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार होना चाहिए। इतिहास के क्षेत्र में शताब्दियों तक मुस्लिम तोतारटन्त और दिमागी-सफ़ाई के माध्यम से विश्व के प्रतिभाशील समाज की मीमांसक विधाओं को अवर्णनीय क्षति पहुँची है। ताजमहल, फतहपुर सीकरी, आगरा दुर्ग और भारत के भीतर व बाहर अनेक भवनों की कल्पित मुस्लिम-निर्मिती को अस्वीकार करने वाली इस पुस्तक की पूर्ववर्ती पुस्तकें उस भरसक प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें इतिहासकारों की सहायता की गई है कि वे अपनी भूतपूर्व धारणाओं और सरलता को बनाए रखने की वृत्ति का परित्याग कर दें। हम सभी इतिहासकारों का आह्वान करते हैं कि वे अधिक, सतर्क, जागरूक रहें और उन सभी संकल्पनाओं की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल करें जिनको वे अज्ञानवश अटूट सत्य मानते चले आ रहे थे।

गांगेय-प्रदेश, जिसमें लखनऊ स्थित है, चिर-विस्मरणीय युगों से ही समृद्धशाली हिन्दू नगरों से परिपूरित रहा है। करोड़ों ऐसे नामों में से कुछ नगर है लखनऊ, सीतापुर, रामपुर, अयोध्या, कन्नौज, जौनपुर, वाराणसी (उपनाम बनारस), प्रयाग (उपनाम इलाहाबाद) और पाटलिपुत्र (उपनाम पटना)। यह आवश्यक नहीं है कि इनमें से प्रत्येक नगर कोई राजधानी रहा हो, अथवा प्रत्येक के साथ एक विशिष्ट तारीख सम्बद्ध हो जिस दिन वह मुस्लिम अधिकार में चला गया था। हिन्दुओं और आक्रमणकारी विदेशी मुस्लिमों के मध्य हज़ार-वर्षीय अवधि में लूट-पाट, अपवित्रीकरण और आगजनी के कोपभाजन नगर कभी परास्त हो जाते थे और कभी फिर विजयी हो जाते थे। ऐसे संघर्ष के विषम युगों में एक क्षेत्र इसके हाथ से उसके

हाथ में पहुँच जाता था। शासक राजवंश, उनके राजमहल, और किले व नगर विध्वस्त और विनिष्ट हो जाते थे। जब बड़े-बड़े क्षेत्र शत्रुओं के हस्तगत हो जाते थे तब बारम्बार लूटे जाने वाले लखनऊ जैसे नगरों को पृथकतः जंगम-सम्पत्ति जैसा सूची-बद्ध हुआ आशा नहीं की जानी चाहिए। इसके विपरीत पाठक के लिए उचित यह होगा कि लखनऊ के बारे में मुस्लिम दावों के सम्बन्ध में वे मुस्लिम अभिलेखों को टटोलें और उनकी माँग करें। कारण यह है कि मुस्लिम शासन अभी हाल ही का था और इसका स्थान ब्रिटिश प्रशासन ने ले लिया था। शिक्षित और राजकीय अभिलेखों के शैक्षिक मूल्य के प्रति प्रबुद्ध समुदाय होने के कारण ब्रिटिश लोगों ने अपने अधिकार में लिये अभिलेखों को न केवल सुरक्षित रखा अपितु उनको सावधानीपूर्वक सूचीबद्ध व श्रेणीबद्ध करके शिक्षा-जगत् के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। अतः यदि हमें मुस्लिम दावे अभिलेखों से पुष्ट होते हुए नहीं मिलते है, तो यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी है कि दावे निराधार हैं।

हम अगले पृष्ठों में दर्शाने वाले है कि फैज़ाबाद उपनाम अयोध्या, और लखनऊ की स्थापना करने के बारे में सभी मुस्लिम दावे झूठे है। यदि उन लोगों ने कुछ किया तो मात्र यही कि उन नगरों को ध्वस्त किया, निर्धन किया और वहाँ के हिन्दू निर्माणों के रख-रखाव के प्रति घोर उपेक्षा ही प्रदर्शित की। हम इससे पूर्व अध्याय में पहले ही लिख चुके हैं कि गोमती नदी के ऊपर बने हुए प्राचीन हिन्दू-पत्थर के पुल की मरम्मत कराने से भी एक कार्य-विमुख और धर्मान्ध मुस्लिम नवाब ने किस प्रकार अपने को साफ़ बचा लिया था—उत्तरदायित्वहीन सिद्ध कर दिया था।

हम जो साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहते है उससे स्पष्ट हो जाएगा कि फैज़ाबाद उपनाम अयोध्या और लखनऊ राजोचित हिन्दू भवनों से युक्त नगर थे जिन पर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने रातों-रात अधिकार कर लिया था। उन लोगों को यह प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी थी कि वहाँ कुछ भवन पहले तैयार हो जाएँ, फिर उन नगरों को अपनी राजधानी बनाया जाए। पहले तीन नवाबों के शासन के समय फैज़ाबाद और लखनऊ, दोनों ही वैकल्पिक राजधानियाँ हुआ करती थीं। इस तथ्य को भी विद्वानों ने ठीक प्रकार समझा नहीं है। सर्वाधिक प्रचलित धारणा यह है कि पहले तीन नवाबों ने फैज़ाबाद को अपनी राजधानी बनाया था, और यह चौथा नवाब ही था जिसने अन्तिम रूप में लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया। यदि यह कल्पना भी कर

ली जाए कि वह सत्य धारणा थी, तो भी चौथे नवाब को लखनऊ में कोई निर्माण करने की आवश्यकत नहीं पड़ी। उसने तो फ़ैज़ाबाद से सिर्फ अपना बिस्तर-बोरिया बाँधा और अपना निवास-स्थान लखनऊ को स्थानान्तरित कर लिया। किन्तु उसके तीन पूर्ववर्ती नवाब भी लखनऊ के प्राचीन हिन्दू मच्छी भवन में (जिन्हें इमामबाड़े कहते हैं), जब तब, पर्याप्त लम्बे समय तक, निवास कर चुके थे। स्वयं चौथा नवाब आसफ़ उद्दौला भी फ़ैज़ाबाद में ही निवास करता रहता यदि उसकी अपनी माँ और दादी से अति दीर्घावधि तक तू-तू "मैं-मैं न चलती। उनकी प्रभुतासम्पन्न उपस्थिति व प्राधिकार तथा उनके द्वारा उसके चरित्र-भ्रष्ट जीवन-प्रकारों की तीव्र निन्दा से बचने के लिए ही चौथा नवाब आसफ़उद्दौला लखनऊ भाग आया था।

एक समृद्धिशाली महानगरी के रूप में लखनऊ के हिन्दू मूलोद्गम में विश्वास करने से अस्वीकार करने वालों को हमारे उस साक्ष्य से, जिसे हम आगे प्रस्तुत करने वाले है, यह स्मरण रखना उत्तम होगा कि स्वयं मुस्लिमों के अन्तर्गत भी लखनऊ ऐसे प्रगट हो जाता है मानों कहीं था ही नहीं। सर्वप्रथम बताया जाता है कि कुछ अकथनीय शेख़ लोग लखनऊ पर शासन करते थे, फिर लखनऊ ऐसा ओझल हो जाता है मानो कहीं था ही नहीं, फिर मुगल बादशाह अकबर के साम्राज्य का एक भाग होने के रूप में इसे खोज निकाला जाता है, फिर दोबारा १५० वर्षों के बाद विदेशी मुस्लिम सूबेदारों की अधीनता में लखनऊ प्रगट हो जाता है; इन सूबेदारों में सआदतअली खाँ पहला व्यक्ति था—बाद में वे अपनी शक्ति से ही शासक बन बैठे। इस इतिहास में हम कहीं भी ऐसे आधिकारिक और साक्ष्यसमर्थित वर्णन नहीं पाते कि मुस्लिमों ने उल्लेख-योग्य कुछ भी निर्माण किया हो। इससे आगे हम यही कुछ प्रमाणित करने वाले है।

लखनऊ के मुस्लिम खानदान की स्थापना के बारे मे एक ब्रिटिश इतिहासकार ने लिखा है:"औरंगजेब की मृत्यु के ५० वर्ष के भीतर ही, बाबर द्वारा निर्मित साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गई थीं प्रान्तों के सूबेदारों ने अपनी -अपनी स्वतंत्र सल्तनतें स्थापित कर ली थीं। फ़ारसी सआदत खान ने, जिसका मूलनाम मुहम्मद अमीन था, महान् गांगेय प्रदेश से अवध का आधुनिक साम्राज्य अलग कर लिया था। इतिहासज्ञ डाऊ ने उसके पोते को "कुख्यात फ़ारसी खौंचेवाले का पुत्र" कहा है।"[१]

---

१. जी० डब्ल्यू० फोरेस्ट विरचित "भारत के नगर", पृष्ठ २१०।

डाऊ अपने मूल्यांकन में पूर्णतः सही है जैसाकि लखनऊ के नवाबों के जीवन का सविस्तार अध्ययन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट हो जाएगा। अफ़गानिस्थान से अबीसीनिया तक फैली भूमि के आवारागर्द लुच्चे-लफंगों के मध्यकालीन भारत की ओर आकर्षित होने पर एक ऐसा उपजाऊ क्षेत्र उपलब्ध हो जाता था जहाँ वे बलात्कार और लूटपाट, यातना और नृशंसता द्वारा विभिन्न प्रदेशों पर स्वयं को अधिपति के रूप में निरूपित कर पाते थे। लखनऊ खानदान का संस्थापक सआदतअली खान भी एक ऐसा ही व्यक्ति था।

जिस लेखक का उद्धरण हमने ऊपर किया है वह आगे लिखता है: "(प्राचीन राजधानी) अयोध्या और लखनऊ वे स्थान थे जहाँ वह मुख्यतः निवास करता था। उसने लखनऊ के सुप्रसिद्ध किले का नाम किला लिखना (लखना) से मच्छी भवन कर दिया।"[२]

श्री फोरेस्ट अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए बधाई के पात्र है। उन्होंने दो बातें बिल्कुल स्पष्ट कर दी है। उन्होंने साग्रह कहा है कि सआदतअली खान, अवध की नवाबी का संस्थापक, लखनऊ और फैजाबाद, दोनों ही स्थानों पर रहा करता था, और उसने (रामायणकालीन संस्थापक लक्ष्मण उपनाम लखन के नाम पर विख्यात) पुराने हिन्दू किले का नाम किला लिखना उपनाम किला लखन उपनाम लक्ष्मण से बदलकर मच्छी भवन कर दिया था। अन्य बहुत सारे लेखक दोनों बातों के सम्बन्ध में इतने स्पष्ट नहीं रहे है जितने श्री फोरेस्ट।

हम, तथापि, एक थोड़े-से सुधार का सुझाव भी देते हैं जिसे श्री फोरेस्ट ने विदेशी होने के कारण अनदेखा कर दिया हो। कोई भी मुस्लिम, जिस प्रकार के धर्मान्ध मध्यकालीन प्रकार से सआदतअली का सम्बन्ध था, अपने निवास स्थान के लिए 'मच्छी-भवन' जैसा संस्कृत नाम रखने की कभी गुस्ताखी नहीं कर सकता था। तथ्य रूप में तो वह भरसक यत्न करता कि इसे जन-स्मृति से विस्मृत कराने के लिए सब कुछ कर दिया जाए। यह तो जीवन का एक तथ्य है जिसे न तो भुलाया जा सकता है, न उपेक्षित किया जा सकता है और न ही अस्वीकार किया जा सकता है। मुस्लिमों ने तो हिन्दुओं की प्रत्येक वस्तु के प्रति घोरतम घृणा व्यक्त की है, अनुभव में प्रदर्शित की है। अतः श्री फोरेस्ट जिस बात को ध्यान में नहीं ला पाये हैं, वह यह है कि

---

२. वही, पृष्ठ २११।

आजकल जिसको इमामबाड़ा कहते है वह प्राचीन राजमहल संकुल अतिप्राचीन समय से ही 'किला लक्ष्मण' और 'मच्छी-भवन' दोनों ही नाम से जाना जाता है। इसके लिए भी कारण है। इसको 'किला लक्ष्मण' कहा करते थे क्योंकि लक्ष्मण ही इसका संस्थापक निर्माता विश्वास किया जाता है। वही भवन-संकुल 'मच्छी-भवन' के नाम से भी जाना जाता था क्योंकि लक्ष्मण का राजचिह्न—मत्स्य—दोनों इमामबाड़ों पर सर्वत्र, अति स्पष्ट रूप मे, विपुल मात्रा में चित्रित किया हुआ है। अतः श्री फोर्रेस्ट को जो अनुभूति होनी चाहिए थी वह यह नहीं कि सआदतअली ने कोई विशेष नाम रखा था, अपितु वह यह थी कि जब से सआदतअली ने इसको अपना स्थायी निवास बनाया, तब से मुस्लिम अभिलेखों में इसका उल्लेख 'मच्छी-भवन' के रूप में किया जाने लगा। अधिक यथार्थता की दृष्टि से चाहें, तो हम कह सकते है कि सम्पूर्ण विशाल किलेबन्दी 'किला लक्ष्मण' और उसके भीतर के महल 'मच्छी-भवन' कहलाते थे।

श्री फोर्रेस्ट के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि जिनको आज-कल दो इमामबाड़े समझा जाता है, सआदतअली के पूर्व समय से विद्यमान रहे हैं, और नवाब खानदान के सभी नवाब—संस्थापक सआदतअली खान से प्रारम्भ कर नीचे चौथे नवाब आसफ़उद्दौला तक—उसी मच्छी-भवन उपनाम 'किला लक्ष्मण' में निवास करते रहे थे। पाठकों को यह पूर्वापर सन्दर्भ पूरी तरह स्मरण रखना चाहिए जब वे उन परवर्ती झूठी कथाओं की सूक्ष्म परीक्षा करें जिन्होंने जनता को यह विश्वास दिलाकर पथभ्रष्ट किया है कि इन दोनों इमामबाड़ों को आसफ़उद्दौला और एक परवर्ती नवाब ने क्रमशः बनवाया था।

एक अन्य इतिहाकार ने लिखा है, "लखनऊ नगरी, जो उन दिनों राजधानी बनने के लिए फैजाबाद के दावे को चुनौती देती थी, सुप्रसिद्ध शेखज़ादों के हाथ मे थी। उनके पूर्वज उस प्रान्त के सबसे पूर्वकालिक मुस्लिम विजेता कहे जाते है। किन्तु राजनीतिक महत्ता की शताब्दियों के बाद वे निर्धन और महत्त्वहीन, नगण्य हो गये थे। अकबर के शासनकाल (सन् १५५६-१६०५) में, उनमें से एक अब्दुल रहीम ने, जो बिजनौर की निर्धन निवासी था, लखनऊ और उसके पड़ोसी ग्राम जागीर में प्राप्त कर लिये, नगर मे ही बस गया तथा वहाँ उसने अपनी पाँच पत्नियों के लिए 'पंचमहल' के नाम से विख्यात पांच राजमहल और स्वयं अपने लिए महल गोमती नदी के तट पर बनवाए।"[३]

उपर्युक्त टिप्पणी का लेखक 'सवानीहात' (पृष्ठ ३४) शीर्षक एक उर्दू तिथिवृत्त का उद्धरण प्रस्तुत करता है बिना यह अनुभव किए हुए कि उस तिथिवृत्त में प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी बातें, असंगतियाँ और झूठे दावे समाविष्ट किए गए हैं।

यदि अब्दुल रहीम उन शेखजादों में से एक था जिसके बाप-दादों के आधिपत्य में लखनऊ और निकटवर्ती क्षेत्र रहा था, तो यह निश्चित और स्पष्ट है कि अकबर ने अपने श्रेष्ठ सैनिक बल के प्रयोग से उसे अपना अधीनस्थ गुलाम ही बना लिया था। इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि अब्दुल रहीम और उसके पूर्वजों को, जिन्होंने पहले कभी किसी को अपना मालिक मानकर नजराना देना स्वीकार नहीं किया, दिल्ली से शासन करने वाले शाही मुगलों को अकबर के समय से अपना स्वामी मानना पड़ा।

दूसरे, लेखक श्रीवास्तव महोदय हमें बताते है कि शेखज़ादा लोग निर्धन हो गए थे, और फिर अचानक चाहते है कि हम यह विश्वास करें कि अकबर की दासता स्वीकार कर लेने के शीघ्र पश्चात् ही अब्दुल रहीम इतना सम्पन्न, धनवान हो गया था कि वह छः राजमहल बनवाने का ऐश्वर्यशाली कार्य कर सकता था। इन छः महलों में से एक तो उसके अपने लिए था और बाकी पाँच महल उसकी पाँच पत्नियों में से एक के लिए एक था। यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार श्रीवास्तव जी अथवा 'सवानीहात' के रचयिता यह दावा करना भूल गए कि अब्दुल रहीम ने अपनी २५ सन्तानों के लिए (अथवा उनकी जितनी भी संख्या थी—उनके लिए) भी एक-एक पृथक् राजमहल बनवाया था।

यदि अब्दुल रहीम ने अकबर की दासता स्वीकार कर ली थी, तो यह बात बिना भारी नज़राना चुकाए सम्भव नहीं हो सकी होगी। क्या इस प्रकार की अदायगी अब्दुल रहीम को अधिक सम्पन्न बनाती अथवा पहले से निर्धन? और उसे अकस्मात ही छः महल बनवाने की क्या आवश्यकता अनुभव हुई? जब उसके मुस्लिम पूर्वज हज़ारों महिलाओं से भरे-पूरे हरमों के साथ पीढ़ियों पूर्व से पूरे शाही ठाठ-बाट से लखनऊ में रहते रहे थे। तब क्या वे खुले आकाश के नीचे अथवा छोलदारियों में ही समय काटा करते थे? क्या यह इस बात का द्योतक नहीं है कि उन्होंने 'किला लक्ष्मण' की किलाबन्दी का उपयोग किया था और अन्दर बने हुए मच्छी भवन राजमहल

---

३. श्री आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव विरचित 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ ३२।

संकुल की विशाल भव्यता का लाभ उठाया था?

साथ ही, यदि अब्दुल रहीम जैसे एक धर्मान्ध मध्यकालीन मुस्लिम (क्योंकि वे सभी धर्मान्ध थे) ने अपनी पाँच पत्नियों के लिए पाँच राजमहल बनवाए भी, तो वह उनको 'पंचमहल' की संस्कृत नामावली से क्यों विभूषित करेगा? विचित्र बात तो यह है कि उसके अपने छठे महल का नाम हमसे अभी तक छुपाकर ही रखा गया है—वह किसी को भी ज्ञात नहीं है।

आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की वर्षों तक अध्यक्षता करने वाले श्री आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव जैसे इतिहासकार मुस्लिम दावों की ऐसी सूक्ष्म और प्रति-प्रश्न पूरित जाँच-पड़ताल न करें—इसी बात से हम स्पष्टतया समझ पाते हैं कि क्यों भारतीय इतिहास के प्रचलित ग्रन्थ सुनी-सुनायी झूठी बातों और उग्रवादी इस्लामी दावों के भानुमती के पिटारे बने हुए हैं। समस्त विश्व में पढ़ाया जा रहा और सत्य के रूप में स्वीकार किया जा रहा भारतीय मध्यकालीन इतिहास ऐसे सफ़ेद झूठों का भ्रमपूर्ण जाल हो यह एक अति घोर शैक्षिक त्रासदायक स्थिति है। इसके बाद भी उसके प्रति मौन-स्वीकृति देना और बिना उपयुक्त तिरस्कार किए इसे आगे भी पढ़ाते रहना घोर शैक्षिक, बौद्धिक अपराध होगा।

तथापि हम 'सवानीहात' के रचनाकार के प्रति और सवानीहात को उद्धृत करने वाले श्रीमान श्रीवास्तवजी के प्रति अत्यन्त आभारी हैं कि उन्होंने हमको अप्रत्यक्ष रूप से सूचित कर दिया है कि मच्छी-भवन राजमहल संकुल या तो पाँच मंज़िला भवन था अथवा उसमें पांच भवनों का एक समूह था जो संस्कृत भाषा में 'पंचमहल' ठीक ही कहा जाता था। पंचमहल शब्दावली 'पंच महाआलय' शब्दावली का अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ ''पाँच (अथवा पांचमंजिले) बड़े निवास-स्थान'' है। इस शब्दावली का हिन्दू राजवंशों में प्रचलन होना इस तथ्य से प्रमाणित है कि सीकरवार राजपूतों की प्राचीन राजधानी फतहपुर सीकरी में एक अन्य भवन भी 'पंचमहल' कहलाता है।[४]

डॉ० श्रीवास्तव हमें सूचित करते हैं कि ''सआदतखान के प्रान्त का

४. कृपया 'फतहपुर सीकरी : एक हिन्दू नगर' शीर्षक पुस्तक देखें जिसमें अकबर द्वारा उस नगर की स्थापना करने के मुस्लिम दावों का तिरस्कार किया गया है।

सूबेदार नियुक्त होने तक शेख़ज़ादा लोगों का लखनऊ और उसके निकटवर्ती प्रदेश पर स्वामित्व रहा था।'' कुछ तुच्छ 'शेख़ज़ादा लोगों' के प्रति सम्बोधित अस्थिर सन्दर्भों से स्पष्ट है कि वे लोग कुछ महत्त्वहीन मुस्लिम लुटेरे अथवा स्थानीय शाही हिन्दू धर्म-परिवर्तित व्यक्ति थे जिन्होंने लूट-पाट, संघर्ष और संभ्रम के उन दिनों में लखनऊ के चारों ओर अपना प्रभुत्त्व जमा रखा था।

डॉ० श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३२ पर आगे लिखा है, ''समाविष्ट बेहूदगियों की परिशुद्धि के बाद, सलातीन अवध में सुरक्षित परम्परा सआदतखान की हलचलों का पर्याप्त ठीक हिसाब प्रस्तुत करती है.....।'' हम यहाँ डॉ० श्रीवास्तव को बधाई देते हैं, मुस्लिम तिथिवृत्तों में समाविष्ट विवेकी 'बेहूदगियों' और उनकी परिशुद्धि की आवश्यकता अनुभव करने पर। किन्तु हम अपने पाठकों को सूचित करना चाहते हैं कि मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों में मुख्यतः उग्रवादी मुस्लिम रुझान, शब्द-आडम्बर और काल्पनिक दावे ही समाविष्ट हैं। अतः अति सतर्कतापूर्ण छान-बीन और जाँच-पड़ताल ही वास्तविक इतिहास के कुछ तथ्य सम्मुख ला सकती है, जैसा कि हम यह संकेत करके दर्शा चुके हैं कि अब्दुल रहीम को जिन छः महलों का निर्माण-यश दिया गया है, वे अन्ततोगत्वा पूर्वकालिक हिन्दू भवन ही सिद्ध होते हैं।

सआदत खान द्वारा लखनऊ पर अधिकार का वर्णन करते हुए डॉक्टर श्रीवास्तव लिखते हैं कि मुहम्मद खान बंगश नामक एक अफ़गान व्यक्ति ने सआदत खान को सलाह दी थी कि वह पहले शेखज़ादों के साथ मित्रता करे और फिर धोखे से आक्रमण करे। सआदत खान ने वैसा ही किया जैसा उसे बताया गया था। प्रत्यक्षतः शेखज़ादों को यह विश्वास दिलाकर कि वह एक मित्र के रूप में आ रहा था, सआदत खान ने गोमती नदी को गौ घाट पर पार किया और ''चुपके से नगर में प्रवेश किया शेखज़ादों ने मुख्य द्वार—शेख़न दरवाज़ा से एक नंगी तलवार लटका रखी थी। सआदत खान ने तलवार खींच ली और हैरान शेखज़ादों पर अचानक हमला कर दिया जिन्होंने अकबरी दरवाज़े पर बहुत थोड़ा-सा मुकाबला किया। किन्तु उनको विवश कर दिया गया कि वे हार मान लें और अपना राजमहल 'पंचमहल' सूबेदार के लिए खाली कर दें।''[५]

५. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ ३२-३३।

इस प्रकार मुग़ल सूबेदार सआदत अली खान ने नितान्त निपट कपट-छल द्वारा लखनऊ विजय कर लिया। इसके लिए उसने स्वयं को एक मेहमान के रूप में बुलवाया और फिर अचानक भारी हत्याकाण्ड शुरू कर दिया। यह ठीक है कि तथाकथित शेखज़ादों ने भी लखनऊ को अपने अधीन करने के लिए पूर्वकालिक हिन्दू शासकों के साथ कोई श्रेष्ठ व्यवहार नहीं किया था, इसीलिए सआदत खान ने भी उनका तैयार किया हुआ ज़हर उन्हीं को पिला दिया था क्योंकि धूर्तता में वह उनका भी गुरु ही था।

'शेखन दरवाजा' और 'अकबरी दरवाजा' जिनको ऊपर सम्बोधित किया गया है, वे वही हैं जिनमें से गुज़रकर, आजकल दर्शक लोग तथाकथित इमामबाड़ों की परिसीमा में प्रविष्ट होते हैं। इनमें से एक दरवाज़ा, जिसकी चोटी पर अष्टकोणात्मक छतरी बनी है, आजकल रूमी दरवाज़ा कहलाता है जो दिव्य रामायण के नायक राम के नाम पर रखे गए प्राचीन नाम 'राम द्वार' को इस्लामी रूप देना है।

सआदत खान ने अब अपनी कुटिल, अपहरणप्रिय आँखें अयोध्या उपनाम फ़ैज़ाबाद की तरफ़ फेरीं, जिस पर उन दिनों मोहन सिंह नामक एक हिन्दू सरदार (नायक) का शासन था। सआदत खान ने अत्यन्त धृष्टतापूर्वक माँग भेजी कि फ़ैज़ाबाद उपनाम अयोध्या उसे तुरन्त सौंप दिया जाय। 'इमादुस्सादत' शीर्षक एक मुस्लिम तिथिवृत्त में कहा गया है कि हिन्दू राजा ने ५०,००० लोगों की सेना खड़ी कर दी। डॉ० श्रीवास्तव को भी अत्यन्त खेदपूर्वक कहना पड़ा है कि मुस्लिम तिथिवृत्त लेखक ने सम्बन्धित आँकड़ों को अति 'अविश्वसनीय' सीमा तक बढ़ा-चढ़ा दिया है।[६]

यह मुस्लिम तिथिवृत्तों की नितान्त अविश्वसनीयता का एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। उनका प्रयोजन किसी भी प्रकार 'इतिहास' होता तो था ही नहीं, हिंसात्मक विदेशियों की चापलूसी और उनका विज्ञापन-प्रचार मात्र ही था। उन तिथिवृत्तों में सदैव ऐसा दर्शाने का प्रयास किया जाता है कि अत्यन्त कम संख्या में होने पर भी मुस्लिमों ने हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या वाली हिन्दू सेना को मार भगाया था, उनका पूरा-पूरा सफ़ाया कर दिया था जबकि तथ्य इसके बिल्कुल

६. वही, पृष्ठ ३६।

विपरीत ही है। मुस्लिम फ़ौजें लूट-मार और भीषण यातनाओं द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्रों को भयभीत करके वहाँ के निवासियों को विवश कर देती थीं कि वे मुस्लिम धर्म अंगीकार करें। फिर उन नए धर्म-परिवर्तितों को तलवार के द्वारा मार डाले जाने का भय दिखाकर छोटी, अलग-अलग पड़ी हिन्दू रक्षक सेनाओं पर आक्रमण के लिए भेज दिया जाता था।

अयोध्या उपनाम फ़ैज़ाबाद के हिन्दू शासक मोहनसिंह को एक बहुत बड़ी मुस्लिम फ़ौज के विरुद्ध लड़ना पड़ा था। इस्लामी अपवित्रीकरण से पावन अयोध्या नगरी को बचाने के लिए वह अत्यन्त शौर्य से युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हो गया। यद्यपि मोहनसिंह के समय तक मुस्लिम आक्रमणों के क्रूर-कर्म होते हुए हज़ार वर्ष की अवधि हो रही थी, तथापि दुर्भाग्य यह है कि हिन्दू शासकों ने कभी भी कोई सीख नहीं ली। यदि अपनी (सेना की) संख्या बढ़ाने के लिए विदेशी मुस्लिम लोग हज़ारों की संख्या में हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन कर सके, तो हिन्दुओं को तो अधिक बुद्धिमान होना चाहिए था। और उन धर्म-परिवर्तितों को पुनः परिवर्तित करने के साथ-साथ विदेशी आक्रमणकारियों को भी हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कर लेना चाहिए था। केवल 'जैसे को तैसे' की नीति ही उस बवण्डर से सुरक्षा प्रदान कर सकती थी। किन्तु चूँकि धर्म-परिवर्तन मात्र एक-तरफ़ा ही था, इसलिए मुस्लिम सेनाएं निश्चित रूप में ही हिन्दू सेनाओं से दसगुनी हो जाया करती थीं जबकि हिन्दू सेनाओं की अपनी संख्या क्रमशः और निस्सहाय रूप में कम होती जाती थी।

इस प्रकार लक्ष्मण की नगरी अर्थात् लखनऊ मुगल सूबेदार सआदत के अपहरण-विध्वंस-काण्ड का पहला शिकार हुई। इसके बाद भगवान राम की नगरी अयोध्या का पतन हुआ। अयोध्या का युद्ध सन् १७२३ ई० के आस-पास लड़ा गया था। यद्यपि सआदत खान इसके पश्चात् अदल-बदल कर लखनऊ और अयोध्या दोनों ही स्थानों पर निवास करता रहा, फिर भी एक अधिक गर्हित उद्देश्य के लिए उसने अपना अधिक समय अयोध्या उपनाम फ़ैज़ाबाद में ही बिताया। वह गर्हित उद्देश्य यह था कि अयोध्या उपनाम फ़ैज़ाबाद के मन्दिरों और भवनों को मस्जिदों और मकबरों में बदलने के लिए उस नगरी को पूरी तरह पैरों तले रौंद डालना आवश्यक था। लखनऊ नगर तो पूर्वकालिक इस्लामी शासकों—शेखज़ादों द्वारा ही पर्याप्त व्यापक-स्तर पर इस्लामी धर्म में परिवर्तित

किया जा चुका था। इस सम्बन्ध में डॉ० श्रीवास्तव ने पर्यवेक्षण किया है: ''फ़ारसी इतिहास में सामान्यरूप शब्दावली में लिखा है कि सआदत खान ने अवध के सभी ढीठ प्रधानों को जड़ से उखाड़ फेंका।''[७]

'ढीठ' तो उन बहुत सारे अभद्र और अपमानजनक विशेषणों में से एक है जिनका प्रयोग हिन्दुओं का पदनाम बताने के लिए इस्लामी तिथिवृत्तों में बिना किसी भूल-चूक से किया गया है। मुस्लिम (मध्यकालीन) तिथिवृत्त हिन्दुओं को हिन्दू के नाम से कभी संबोधित नहीं करते है अपितु ''कुत्ते, चोर, डाकू, लुटेरे, दास-गुलाम'' और ऐसे ही अपमानजनक निन्दा-शब्दों के द्वारा उनको इंगित करते है। भारतीय इतिहास पर लिखने वाले सभी लोगों ने सामान्यतः इस तथ्य को इतिहास के विद्यार्थियों और जनता से छिपाकर ही रखा हुआ है।

ऊपर दिए हुए अवतरण से स्पष्ट है कि पंचमहल एक पाँच-मंजिला राजमहल था (जैसाकि इसका नाम दर्शाता है) न कि पाँच राजमहलों का एक समूह। 'सवानीहात' से स्पष्टतः मुस्लिम उग्रवादी लेखक ने यह कहकर स्वयं ही अपनी सत्यता की पोल खोल दी है कि (पहले तो उसने लिखा है कि)पंचमहल अपनी पाँच पत्नियों के लिए बनाए गए पाँच राजमहल थे, और फिर (उसी ने लिखा है कि) सआदत खान ने वह राजमहल जीत लिया जिसे पंचमहल कहते थे। यह तथ्य, कि सवानीहात का लेखक हमें धोखा दे रहा था, इस बात से भी प्रत्यक्ष है कि जब पाँच पत्नियों के लिए बनाए गए पाँच महलों का सामूहिक नाम वह हमें बताने की कल्पना कर लेता है, तभी वह हमें उस छठे राजमहल के नाम के बारे में कोई भी जानकारी नहीं देता जिसे अब्दुल रहीम द्वारा स्वयं के लिए निर्मित किया गया कहा जाता है। मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों में ऐसे गोलमालों के अनन्त जाल बुने हुए है। यही तो वह अनुभूति है जिसके कारण स्वर्गीय सर एच० एम० इलियट को पर्यवेक्षण करना पड़ा था कि भारत में मुस्लिम-युग का इतिहास ''एक जान-बूझकर किया हुआ निर्लज्ज, रोचक धोखा है।''

हमने, ऊपर जिन अवतरणों को उद्धृत किया है उनमें ''गौ घाट' शब्दावली महत्त्वपूर्ण है। यह इस बात का द्योतक है कि मुस्लिम-पूर्वकाल में गोमती नदी एक महत्त्वपूर्ण प्रवाहिनी थी जिसके दोनों और सीढ़ियों-युक्त, पक्के

७. 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ ३७।

घाट बने हुए थे, जिनमें एक 'गौ' के नाम पर रखा गया था, जो हिन्दुओं के लिए अति पुनीत है। आधुनिक लखनऊ में तो वह नदी-धारा एक गन्दा नाला ही रह गयी है और उसके पक्षों में गन्दी बस्तियाँ हो गई है जो मुस्लिम शासन की शताब्दियों में अनवरत लूट-खसोट का भयंकर परिणाम ही है।

आसफ़उद्दौला द्वारा आधुनिक लखनऊ की कल्पित स्थापना किए जाने के बारे में यह अति विचित्र बात है कि जिन ब्रिटिश विद्वानों के बारे में सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि वे तथ्यों, प्राधिकारियों और अभिलेखों को अत्यन्त सतर्कतापूर्वक परखते थे, उन्हीं लोगों ने मुस्लिम मनगढन्त झूठी बातों को ज्यों का त्यों, अत्यन्त सरलतापूर्वक स्वीकार कर लिया है। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि मुस्लिम लोगों के उस अवधि से सम्बन्धित दावों को भी ब्रिटिश विद्वानों ने यन्त्रवत् दोहराया है जबकि लखनऊ की मुस्लिम नवाबी भारत में उदीयमान ब्रिटिश सत्ता की सूक्ष्म निगरानी और सतर्कता में थी। लखनऊ के नवाब के दरबार में एक ब्रिटिश प्रतिनिधि (रेज़ीडेण्ट) रहा करता था जो दरबार में होने वाली प्रत्येक बात पर कड़ी देख-रेख रखा करता था। लखनऊ का नवाब स्वयं भी ब्रिटिश कम्पनी के भारी कर्ज में दबा हुआ था। तथाकथित इमामबाड़ों के काल्पनिक निर्माता आसफ़उद्दौला को ब्रिटिश गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स द्वारा सतत् रूप में ही सताया जाता रहा था कि वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लाखों रुपये के कर्जे को वापस चुकाए, जैसा हम आगे चलकर प्रदर्शित करेंगे। इन परिस्थितियों में यह पूर्णतया बेहूदी बात है कि जैसाकि आजतक इतिहासकारों और सामान्य लोगों ने कहा है अथवा विश्वास किया है कि आसफ़उद्दौला ने निर्धन हो गए धनी लोगों को दुर्भिक्ष के समय राहत-कार्य के रूप में एक भवन-निर्माण का आदेश दिया था, कि उसने इस भवन का नाम इमामबाड़ा अर्थात् मुस्लिम धार्मिक नेता का निवास-स्थान रखा था किन्तु इसका वास्तविक प्रयोजन ताजियों का कारखाना होता था। तथापि वास्तविकता यह है कि वही स्थान आज उस तथाकथित निर्माता का कब्रिस्तान बना हुआ है। एक झूठ की कहानी के ऊपर दूसरी, तीसरी झूठी कहानियों का यह अम्बार अत्यन्त विचित्र, ऊटपटाँग और आधा तीतर, आधा बटेर है। इन सबके ऊपर, इमामबाड़ों पर हिन्दू चिह्न 'मछली' रूप निरूपित है। जीवित वस्तुओं, प्राणियों के ये प्रतिबिम्ब इस्लाम में पूर्णतः निषिद्ध बात है क्योंकि इससे उनको मूर्तिपूजा की गन्ध आती है।

इन मनगढ़न्त मुस्लिम वर्णनों में नितान्त आस्था, विश्वास प्रत्यक्ष रूप में रखने वाले पश्चिमी इतिहासकारों के इस प्रवंच्चय वर्ग में एक व्यक्ति था लेखक 'कीन'। उसने लिखा है—"अपनी माँ से लड़ने-झगड़ने के कारण उस (आसफ़ उद्दौला) ने अन्तिम रूप से फ़ैज़ाबाद का परित्याग कर दिया और अपनी राजधानी लखनऊ में स्थापित, निश्चित कर दी, जिसे उसने बहुत बढ़ा दिया और सुन्दर रूप दे दिया। सन् १७८४-८५ ई० के घोर दुर्भिक्षकाल में उसने किले के भीतर बड़े-बड़े कमरे और मस्जिद का निर्माण करवाया; तथा सन् १७९८ ई० में अपनी मृत्यु पर पारितोषिक और उदारता-दयाशीलता की सुखद स्मृति छोड़ गया।"[८]

कीन ने ऊपर जिन दावों का वर्णन किया है, उनमें से एक भी तथ्य के बारे में किसी प्राधिकारी का उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया है। पर्याप्त विचित्रता तो यह है कि तथाकथित इमामबाड़ों तथा अन्य जिन भवनों के निर्माता के रूप में आसफ़उद्दौला को श्रेय देने वाले मुस्लिम दावे हैं, उनका तिरस्कार प्रदान करने के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र कीन का उपर्युक्त पर्यवेक्षण अनायास असावधानीवश प्रस्तुत कर देता है। कीन हमको बताता है कि बड़े-बड़े कमरे (अर्थात् तथाकथित विशाल इमामबाड़े) और मस्जिद किले के भीतर बनाए गए थे। अभी तक, इससे पूर्व, हमने कई प्राधिकारियों का उल्लेख यह सिद्ध करने के लिए किया है कि आसफ़उद्दौला से पूर्व हुए सभी मुस्लिम शासकों ने लखनऊ को वैकल्पिक राजधानी समझा था और वे किले अर्थात् 'किला लखना' उपनाम 'किला लखन' उपनाम 'किला लक्ष्मण' के भीतर ही निवास करते रहे थे। हम यह भी सूचित कर चुके हैं कि इसी किले के अन्दर राजमहल भी थे जिनको मच्छी-भवन कहते थे, कदाचित् कुछ अन्य भवन भी थे जिनको पंचमहल कहते थे और एक छठा महल भी था जिसका नाम ज्ञात नहीं। कीन से पहले भी अनेक मुस्लिम लिपिक उन्हीं प्राचीन हिन्दू राजभवनों का निर्माण-श्रेय अब्दुल रहीम और अन्य मुस्लिम अपहरणकर्त्ताओं व विजेताओं को देते रहे हैं। यदि इतने सारे भवन और राजभवन किले के भीतर की सम्पूर्ण उपलब्ध भूमि पर पहले ही बने हुए थे, तो आसफ़उद्दौला ने वे बड़े-बड़े कमरे और मस्जिद कहाँ बनवाए थे? क्यों और कैसे प्रत्येक परवर्ती मुस्लिम विजेता किले की पुरानी परिधि-रेखाओं से ही चिपटा रहा और प्राचीन हिन्दू भवनों की उसी भूमि पर बार-बार अपने भवनों का निर्माण कराता रहा?

---

८. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ४४।

और यदि मुस्लिम शासक प्रत्येक परवर्ती शासकों के पूर्वकालिक भवनों को गिराकर ही नए निर्माण करते रहे, तो ध्वस्त भवनों के असीमित मलबे को ढोकर अन्यत्र ले जाने का सन्दर्भ कहाँ है? और यदि प्रत्येक धर्मान्ध और असहनकारी मुस्लिम ने एक के बाद एक भवन का निर्माण करवाया था, तो क्या कारण है कि उन भवनों के नामों में 'मच्छी-भवन' और 'पंचमहल' जैसी संस्कृत शब्दावलियाँ विद्यमान हैं। यदि वास्तव में मुस्लिमों ने उन भवनों का निर्माण कराया ही था, तो उनके लेखा-विवरण और मूल नक्शे आदि कहाँ हैं? ये सब उपलब्ध क्यों नहीं हैं? और इसका क्या कारण है कि एक भी लेखक—चाहे वह मुस्लिम हो अथवा अंग्रेज—अपने उस दावे के समर्थन में एक भी प्राधिकारी का उल्लेख नहीं करता अथवा किसी दस्तावेज़ को प्रस्तुत नहीं करता जिसके अनुसार उन कल्पनातीत राजभवन-सम भवनों का निर्माणादेश इस या उस अब्दुल रहीम अथवा आसफ़उद्दौला ने दिया हो? इसके विपरीत, हम इससे आगे स्पष्ट रूप में प्रगट करेंगे कि एक समकालीन मुस्लिम वर्णन में आसफ़उद्दौला द्वारा कुछ भी निर्माण करने का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं किया गया है। अन्य वर्णन भी आसफ़उद्दौला द्वारा बड़ा इमामबाड़ा निर्माण करवाने के बारे में अप्रत्यक्ष और अस्थिर दावा करता है किन्तु इसका लेखक कहता है कि यह निर्माण तो सन् १७८४ ई० के कई वर्षों बाद हुआ था और निश्चित है कि दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों को छुटकारा दिलाने के लिए राहतकार्य के रूप में तो इसका निर्माण बिल्कुल नहीं हुआ था। इस प्रकार आसफ़उद्दौला का वह मुस्लिम समकालीन रचनाकार अन्य लेखकों के उन काल्पनिक मन्तव्यों को झुठला देता है जिनमें कहा गया है कि बड़े इमामबाड़े का निर्माण सन् १७८४ ई० में दुर्भिक्ष के समय राहतकार्य के रूप में हुआ था।

यह खेद की बात है कि सामान्यतः एक समझदार और भावुक इतिहासकार कीन ने लखनऊ के इतिहास के सम्बन्ध में स्वयं को पथ-भ्रष्ट हो जाने दिया है। वह स्वीकार करता है कि अपनी माता के साथ एक झगड़े के कारण आसफ़उद्दौला ने फ़ैज़ाबाद का परित्याग कर दिया था। झगड़ा यह था कि शासक नवाब आसफ़उद्दौला ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रति अपने भारी कर्जे को चुकाने और अपनी व्यभिचारी वृत्तियों का खर्चा भुगतने के लिए अपनी माँ पर अनुचित दबाव डालता रहता था और उसे इस प्रकार दुरुपयोग करता था कि वह अपनी विपुल धनराशि उसको सौंप दे। क्या एक ऐसा नवाब, जो अपनी ही माँ को ठगता है और बहुत बड़ी धनराशि का अपव्यय अपनी वासनात्मक और अन्य

निरर्थक गतिविधियों की पूर्ति के लिए करता है, कभी ऐसा हो सकता है जो जनता की भलाई के लिए इतनी परवाह करता और एक दुर्भिक्ष की अवधि के समय अपनी असहाय प्रजा को कार्य देने के लिए अनावश्यक भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करता।

उग्रवादी मुस्लिम वर्णनों में समाविष्ट इसी प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण दावों को आधुनिक रचनाकारों ने भी यन्त्रवत् दोहराया है। इस प्रकार कीन ने पर्यवेक्षण किया है—"(लखनऊ के निकट) जलालाबाद का ध्वस्त किला सन् १७६४ ई० में शुजाउद्दौला द्वारा बनवाया गया विश्वास किया जाता है।" लखनऊ में एक प्राचीन भवन के बारे में कीन लिखता है—"'दिलकुश', लखनऊ और उसके आस-पास सर्वाधिक सन्तोषदायक भवनों में से एक है। इसका निर्माण सआदत (द्वितीय) द्वारा इस शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में किया गया था और यह एक विशाल हिरण उद्यान में स्थित था। किन्तु कुछ वर्ष पूर्व किसी व्यक्ति द्वारा लकड़ी का सामान हटा दिया गया है, और इसकी पक्की चिनाई ढह गई है। कुछ ही वर्षों में, इस स्थान की पहचान के लिए मात्र कुछ ध्वस्तावशेषों का अन्य कोई चिह्न नहीं रह जाएगा।"[१] जलालाबाद के किले के बारे में कीन सुनिश्चित नहीं है। वह अनिश्चित रूप में मात्र इतना ही कह सकता है—"विश्वास किया जाता है कि शुजाउद्दौला ने इसका निर्माण किया था।"

यह बात भी समझ में नहीं आती कि लखनऊ के किसी नवाब द्वारा इसी शताब्दी में बनाये गए किसी भवन की लकड़ी को चुराने दिया जाए और यह इस प्रकार ध्वस्तावस्था को प्राप्त हो जाए कि कुछ समय बाद इसका नामोनिशान भी न रहे जबकि अन्य भवन शताब्दियों तक ज्यों-के-त्यों पूरी तरह स्थिर, पक्के खड़े हैं। स्पष्ट है कि यह एक अन्य इस्लामी झूठ है। रामायण की कथा से हमें ज्ञात ही है कि सीता को हिरण अति प्रिय थे और उनके पुत्रों के नाम लव और कुश थे। अतः जो सीता का हिरण-उद्यान था और लखनऊ के हिन्दू शासकों द्वारा भगवान राम के पुत्रों लव-कुश के नाम पर जिसका नामकरण किया गया था, उसी को अत्यन्त धूर्ततापूर्वक चुपके-से मुस्लिम हिरण-बाग के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। मात्र इतना किया है कि इस भवन का नाम लव-कुश की जगह दिल-कुश कर दिया

१. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५२।

गया है। यही तथ्य कि भवन घोर ध्वस्तावस्था और निर्जन में है, सिद्ध करता है कि यह अवश्य ही अति प्राचीन होगा। साथ ही, यदि यह सत्य ही नवाब द्वारा बनवाया गया होता, तो क्या इसकी लकड़ी को चोरी हो जाने दिया जाता? किन्तु चूँकि यह एक पूर्वकालिक प्राचीन पवित्र हिन्दू सम्पत्ति थी, मात्र इसीलिए मुस्लिम शासनान्तर्गत इसे भ्रष्ट होने और लुट जाने दिया गया।

मेजर जनरल मार्टिन की सम्पत्ति 'कोस्टेंटिया हाउस' (मदिरा आलय) के नाम के पुकारे जाने वाले भवन के बारे में कीन हमें बताता है कि नवाब आसफ़उद्दौला इसे अति उत्सुकतापूर्वक पसन्द करता था। जनरल मार्टिन ने इस आशंका से कि "एक मुसलमान शासक सम्पत्ति के अधिकार का उल्लंघन कर सकता है, अपहरण कर सकता है, उस भवन को अपनी मृत्यु के समय वसीयत में एक विद्यालय को दान कर दिया था और आदेश दिया था कि उसके अवशेष उस भवन के एक कमरे में अन्तर्प्रविष्ट किए जाएँ" "इसके सामने एक निर्जन, पतली जलधारा है जो मुख्यतः कपड़े धोने के काम आती है। इसमें एक विचित्र एकाकी विद्युदणु-सम्बन्धी स्तम्भ को आसरा देने वाली एक छोटी मोर्चाबन्दी है जिसके ऊर्ध्वशीर्ष का एक भाग ही शेष है और यह एक अष्टकोणात्मक मण्डप को सहारा देता है जिसके शीर्ष पर एक छोटा कलश है जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रयोजन नहीं है।"[१०]

जिस समय राजनीतिक और सैनिक, दोनों ही दृष्टि से, नवाब ब्रिटिश लोगों की पूर्ण दया पर ही आश्रित था, उस समय भी यदि एक ब्रिटिश सेनापति को आशंका थी कि उसका भवन मुस्लिम नवाब द्वारा बलात्-अधिगृहीत हो सकता था, तो क्या यह आश्चर्य नहीं है कि प्राचीन लखनऊ और उसके भवनों के सम्बन्ध में मुस्लिम दरबारी चापलूसों द्वारा इस या उस नवाब द्वारा उनको बनवाने के नितान्त झूठे दावे भी किए गए हैं? वह जल-राशि, विचित्र विद्युदणु-स्तम्भ तथा अष्टकोणात्मक मण्डप प्रत्यक्षतः प्राचीन हिन्दू ध्वंसावशेष ही है क्योंकि मात्र हिन्दुओं की विशेष रुचि अष्टकोणात्मक संरचनाओं के प्रति है। केवल हिन्दू लोगों में ही अष्टदिशाओं के विशेष नाम उपलब्ध है और उन दिशाओं के विशिष्ट रक्षक, अलौकिक अष्ट-दिक्पाल भी हिन्दू लोग ही मानते हैं। अतः लखनऊ के निवासियों और लखनऊ के इतिहास से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को, अब

१०. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५४-५५।

आँग्ल-मुस्लिम कपट-जाल में विश्वास करना समाप्त कर देना चाहिए और लखनऊ का अध्ययन पवित्र रामायणी-साहचर्य वाले एक प्राचीन हिन्दू नगर के रूप में करना चाहिए।

तथाकथित विंगफील्ड पार्क के सम्बन्ध में कीन हमें सूचित करता है—"उद्यान के केन्द्रीय भाग में एक सुन्दर मण्डप अथवा बारादरी मुगल वास्तुशैली में है जो किसी समय केसर बाग अथवा वाजिद अली के राजमहल की परिसीमा में हजरत बाग का एक प्रमुख अलंकरण, सजावट रही थी। इसे वहाँ से हटा दिया गया था और इसकी वर्तमान स्थिति में पुनःसंरचना की गई थी।"[११]

बारह (अथवा अधिक) द्वारों वाले तोरणद्वारों का द्योतक 'बारी-बारी' शब्द संस्कृत भाषा का है। यदि मुस्लिमों ने इसका निर्माण किया होता, तो उन्होंने इसे कभी संस्कृत नाम नहीं दिया होता। साथ ही, जो कुछ मुस्लिम वास्तुकला कल्पना की जाती है, वह सभी हिन्दू शैली सिद्ध की जा चुकी है।[१२] "केसरबाग" शब्द भी हिन्दू है क्योंकि केसरी का अर्थ सिंह है, और सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न सम्राटों के साथ जुड़ा हुआ 'कैसर' उपाधि-शीर्षक संस्कृत शब्द केसरी का अपभ्रंश रूप है। यह विश्वास भी, कि पक्की चिनाई वाली बारादरी को एक जगह से उखाड़ा और दूसरी जगह ले जाकर लगाया जा सकता था, भारत में प्राचीन, ऐतिहासिक भवनों के बारे में आँग्ल-मुस्लिम वर्णनों में बारम्बार दोहराया गया प्रपंच है, धोखा है। कीन का उपर्युक्त पर्यवेक्षण मात्र इसी बात का द्योतक है कि बारादरी की दोनों तरफ़ प्राचीन हिन्दुओं से सम्बन्धित है, और यदि वहाँ अब पुरातत्त्वीय खुदाई की जाए, तो सम्भावना है कि वहाँ उन दिनों की हिन्दू देव-प्रतिमाएँ, संस्कृत शिलालेख और अन्य महत्त्वपूर्ण स्मृति-चिह्न मिल जाएँ जब उन स्थानों को मुस्लिम आक्रमणकारियों और भ्रष्टकर्ताओं द्वारा लूटा छीना-झपटा गया था।

लखनऊ की एक अन्य इमारत के सम्बन्ध में कीन ने लिखा है—"नजफ अथवा उपनाम शाह नजफ़ में (अवध के बादशाह) गाजीउद्दीन हैदर का शवस्थान है जिसने (अपने कब्रस्थान के रूप में) इसे बनवाया था। इसमें एक सुन्दर संगमरमरी फर्शबन्दी थी और शीशे में अनेक सजावटीकाम थे जो सबके सब

११. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५५।
१२. ई० बी० हैवेल की पुस्तक 'इण्डियन आर्किटेक्चर' और 'ताजमहल हिन्दू राजभवन है'—ना० ओक, आदि की ओर ध्यान दें।

विनष्ट हो गए....।"[१३]

क्या कोई बादशाह इतना बेवकूफ़, निर्बुद्धि होगा कि जब वह, उसकी पत्नी और बच्चे-बच्चियाँ जीवित हों, तब तो उनके लिए निवास-योग्य कोई महल न बनवाए और किसी संशयपूर्ण, अनिश्चित मरणोपरान्त समाधान हेतु अपने निर्जीव मृत-पिण्ड को शरण देने के लिए एक विशाल मकबरा बनवाए? विकट इस्लामी प्रपंच, कपटजाल यह प्रचारित, प्रसारित हुआ है कि मुस्लिम दरबारियों और शासकों में से एक बहुत बड़ी संख्या का यह एक विचित्र विश्वेतर रुझान रहा है कि वे अपने जीवनकाल में ही अपने मकबरे बनवा लिया करते थे। यह कार्य सिंहासनारूढ होने के बाद मानों उनका सर्वप्रथम, सर्वावश्यक कार्य होता था। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मारने के बाद ही वे राजगद्दी हड़प पाते थे। इन इस्लामी मनगढ़न्त बातों में अन्धविश्वास की यह प्रक्रिया पर्याप्त दीर्घकाल से, अनायास ही चली आई है। प्रत्येक अविनीत उत्तराधिकारी द्वारा प्रत्यक्षतः अ-निर्मित भव्य भवनों में कब्रों की उपस्थिति का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिए मुस्लिम दरबार के चापलूसों और अन्य उग्रवादियों ने इस निराधार बकवास को प्रसारित, प्रचारित कर दिया और अंग्रेज विद्वानों ने उसमें पूर्ण विश्वास स्थापित कर लिया।

तथाकथित शाह नजफ़ के मामले में भी, क्यों और कैसे इसकी शीशे और संगमरमरी साज-सामग्री लूटी अथवा विनष्ट न की जाए जब कि यह पूर्वकालिक हिन्दू भवन हो और इसीलिए मध्यकालीन मुस्लिमों का शिकार न हों। ऐसे मामलों में यह अनुभूति अवश्य होनी चाहिए कि लूट-खसोट और विनाश-कार्य दफ़नाने के काम के बाद नहीं हुआ था, अपितु मुस्लिम शासकों और दरबारियों को निश्चित रूप में ही ध्वस्त हिन्दू भवनों में दफ़नाया गया था, गाड़ दिया गया था। यही बात अवश्यम्भावी रूप में, शाह नजफ के मामले में भी हुई होगी।

भवनों की दीवारों और भीतरी छतों को काँच के छोटे-छोटे टुकड़ों से सजाना एक हिन्दू, राजपूत रीति-नीति है, पद्धति है। इसके विपरीत, कठोर पर्दा-पद्धति का पालन करने वाले मुस्लिम लोग ऐसे काँच-भवन कभी भी नहीं बनाएँगे जिनमें उनके महिला-वर्ग के हजारों प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ें। इस प्रकार, तथाकथित शाह नजफ़ की काँच-सज्जा इसके हिन्दू-मूलक होने का एक महत्त्वपूर्ण

१३. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५५।

सूत्र है। कदाचित् गाज़ीउद्दीन हैदर के शव को स्थान दिये हुए इस भवन का 'शाह नजफ़' शीर्षक भी कष्टबोधक है, क्लेशकर है। बहुत सारे प्रिय मुस्लिम-भवनों के नाम, चाहे वे मकबरा, मस्जिद अथवा मकान ही हों, ऐसे मिलेंगे जो उन भवनों के निहित, प्रत्यक्ष कार्य से सर्वथा भिन्न, क्लेशकर है। इससे मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अनुसन्धान-कर्त्ताओं को विश्वास हो जाना चाहिए कि विजयोपरान्त हिन्दू भवन को अपने अधिकार में ले लेने के बाद और अन्त में एक मस्जिद अथवा मकबरे का रूप दिए जाने के पूर्व उस हिन्दू भवन को, बहुविध जीवन में, अनेक प्रकार से उपयोग में लाया गया था।

कीन एक ऐसे तथाकथित मोतीमहल का भी उल्लेख करता है ''जिसकी छत पर बनी एक संरचना की आकृति के कारण उसे इस नाम से पुकारा जाता था, जो अब विद्यमान नहीं है। यह नवाब सआदतअली (द्वितीय) द्वारा नदी-तट पर निर्मित विहार-कक्षों की शृंखला में से एक था।''[१४]

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'मोतीमहल' शब्दावली पूर्णतः हिन्दू है। यह मुस्लिम परम्परा के बिल्कुल बाहर की बात है। इस शब्द का स्पष्टीकरण पूछे जाने मुस्लिम जालसाज़ों ने इसका श्रेय ''छत पर बनी किसी संरचना'' को दे दिया। वह क्या था और वह वहाँ क्यों था? और इसे कब अथवा क्यों नष्ट किया गया था? कोई बता नहीं पाता। साथ ही, कोई भी भवन छत पर बनी तुच्छ संरचना के नाम से जाना नहीं जाता है। जिस प्रयोजन से किसी भवन का निर्माण किया जाता है, उसी नाम से वह जाना जाता है। अन्य उपयुक्त प्रश्न यह होगा कि यह संरचना नष्ट क्यों हो गई जब मच्छी भवन किला उपनाम बड़ा इमामबाड़ा जैसी पूर्वकालिक संरचनाएँ हमारे सम्मुख आज भी खड़ी हैं? नदी-तट पर 'विहार-कक्षों की शृंखला' की ओर संदर्भ-संकेत स्पष्टतः उस प्राचीन हिन्दू लखनऊ की स्मृतियों की ओर है जब सम्पूर्ण नदी-तट के साथ भव्य भवन विद्यमान थे। नदी तटों के साथ-साथ उत्तुंग भवन बनाने की हिन्दुओं की विशेष रुचि के दर्शन आगरा, वाराणसी, उज्जैन, दिल्ली तथा भारत में लगभग प्रत्येक प्राचीन नगर में किए जा सकते हैं।

---

१४. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५७।

कीन ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ५८ पर यह उल्लेख भी किया है—''तारा कोठी का निर्माण मूलरूप में वेधशाला के लिए दूसरे बादशाह नज़ीरुद्दीन हैदर द्वारा किया गया था।'' तारा एक संस्कृत शब्द है, मुस्लिम शब्द सितारा है। यह फिर संदेहपूर्ण बात है। साथ ही, खगोलशास्त्रीय पर्यवेक्षणों के प्रति मुस्लिम-परवाह सर्वज्ञात नहीं। लखनऊ के शासक तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा आहिस्ता-आहिस्ता, एक-एक करके, उनके क्षयिष्णु धन और क्षेत्र-सीमा को हड़पे जाने के कारण पहले ही अत्यधिक चिन्तित थे। ऐसी परिस्थितियों में कोई लखनवी-शासक, स्वयं अपने और अपने परिवार के लिए किसी राजमहल का निर्माण करने के स्थान पर, सभी भवनों को छोड़कर, खगोलशास्त्रीय वेधशाला का निर्माण ही क्यों करवाता? अतः, हम मध्यकालीन भारतीय इतिहास के सभी विद्यार्थियों और ऐतिहासिक स्थलों के दर्शकों को सावधान करना चाहते है कि वे मुस्लिम-निर्माण-सम्बन्धी दावों में प्रारम्भ से ही स्वतः विश्वास करने के स्थान पर सभी तथ्यों को पूरा-पूरा जाँच लें, उनकी बारम्बार परख कर लें। धोखे के कारण आधुनिक दीख पड़ने वाले भवनों की भी अति सावधानीपूर्वक परीक्षा की जानी चाहिए; और यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि वे अति प्राचीन निर्माण हैं जिनपर कुछ मरम्मत-कार्य और आधुनिक रंग-रोगन या धुलाई-पुताई कर दी गई है। यह बात विशेषतया लखनऊ के ऐतिहासिक भवनों के बारे में सत्य है जो प्राचीन, हिन्दू होने पर भी सफ़ेद या पाण्डु इस्लामी-रंगरोगन होने के कारण प्राचीनता में कुछ समय पूर्व के मालूम देते हैं। उन पर अलंकृत कमल और मत्स्य चिह्न उन सूत्रों में से है जो उनके हिन्दू-मूलक होने को प्रगट कर देते हैं।

तथाकथित केसरबाग के सम्बन्ध में कीन ने (अपनी पुस्तक के पृष्ठ ५८ पर) लिखा है—''यह विशाल समूह सन् १८४८ ई० में प्रारम्भ किया गया था और इसे सन् १८५० ई० में पूरा कर दिया गया था; यह स्वीकार किया जाता है कि इसकी लागत में लाखों रुपया खर्च हुआ था। यह बताना कठिन है कि इसमें से कितनी मजदूरी सवेतन थी और कितनी बेगार अथवा अवेतन थी; दूसरी ओर लिपिकों व अन्य उच्चतर कर्मचारियों का वेतन सम्भवतः बहुत अधिक व अनियन्त्रित था। इसका परिणाम एक विशाल प्रांगण है जिसके चारों ओर अनोखे भवन बने हैं जहाँ आकर्षक गेरुआ और सफ़ेद रंग की पुताई उस शाला को अति विचित्र रूप, आभा प्रस्तुत करते हैं। इस पूर्वीय जेरोल्स्टीन के निवास-स्थान

को इन वैभवशाली स्थानों का आज जो कुछ शेष रह गया है वह (काफ़िले की) सराय मात्र बना दिया गया है।''

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि व्यय की गई धनराशि के आँकड़े मात्र काल्पनिक है। दूसरी बात यह है कि 'गेरुआ' रंग ऐसा है जिसे हिन्दू लोग अवश्य ही उपयोग में लाते हैं, और मुस्लिम जिसके प्रति तीव्र तिरस्कार प्रदर्शित करते हैं। तीसरी बात यह है कि यदि वह इतना आधुनिक, निकटकालीन शाही निवास-स्थान था, तो क्या कारण है कि इसकी उपेक्षा कर दी गई और यह (काफ़िले की) सराय मात्र रह गया? अतः, शोधकार्ताओं को इसकी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए कि सन् १८४८-५० ई० की अवधि में पूर्ण की गई परियोजना किसी पूर्वकालिक हिन्दू संरचना का नवीनीकरण मात्र तो नहीं थी।

'केसर बाग़ के दक्षिण-पश्चिम कोने पर (केसर पसन्द नाम का) एक अन्य भवन है जो विशाल राजमहल से भी अधिक अनोखी संरचना है (इसमें) हिन्दू छतरियाँ है मूलतः यह व्यभिचारी नज़ीरुद्दीन हैदर के जमाने में उसके वज़ीर रोशनउद्दौला द्वारा बनवाई गई थी। सर एम० जैक्सन और उसके दल को इस भवन की कोठरियों में ही बन्द कर दिया गया था।''[१५]

हमें आश्चर्य इस बात का होता है कि स्वयं शासक द्वारा निर्मित भवन से भी अधिक अनोखा भवन उसके वज़ीर द्वारा निर्मित किस प्रकार हो सकता है? दूसरी बात यह है कि चूँकि वह वज़ीर और वह शासक, दोनों ही धर्मान्ध मुस्लिम थे, इसलिए वे अपने उन भवनों मे हिन्दू छतरियाँ और अन्य हिन्दू निशानियाँ क्यों रखते जिनका उल्लेख कीन ने नहीं किया है? शासक के सम्बन्धित परिसर में ही उसका वज़ीर किस प्रकार एक भवन बना सकता था? क्या वह जनरल मार्टिन जैसा आशंकित नहीं होता कि उस भवन को स्वयं शासक द्वारा ही हड़प लिया जाता? इन सब विचारों से लोगों को यह प्रेरणा होनी चाहिए कि वे मुस्लिम निर्माण सम्बन्धी दावों की सत्यता को परखें, उनकी जाँच-पड़ताल करें।

''लखनऊ के अनोखे भवनों में से सबसे अधिक अनोखा प्रासाद छत्र-मंज़िल (अथवा छता घर) है जो लम्पट नसीरुद्दीन द्वारा बनवाया गया था और

---

१५. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ५९-६०।

मूलावस्था में एक सुदृढ़ व ऊँची ईटों की दीवार से घिरा हुआ था।''[१६]

यहाँ फिर वही प्रश्न उठता है कि क्यों और कैसे उस भवन के लिए मण्डप के सूचक, संस्कृत भाषा के 'छत्र' शब्द को चुना गया था? साथ ही, यदि यह ईटों की दीवार से घिरा हुआ था और इसे तुलनात्मक रूप में अभी कुछ समय पूर्व निर्मित ही कहा जाता है तो क्या कारण है कि इसकी दिवार गिर गई? ईटों की दीवार की सुरक्षा-पंक्ति की अ-विद्यमानता यही विचार उत्पन्न करती है कि यह एक सुरक्षित किलेनुमा हिन्दू राजभवन था जिसकी विशाल बाहरी दीवार मुस्लिम आक्रमणों के कारण क्षत-विक्षत, विनष्ट हो गयी थी। मुस्लिम विजेताओं को ये भवन बने-बनाए मिल गए जो सहस्त्रों महिलाओं से खचाखच भरे हुए उनके हरमों के लिए तुरन्त काम में आ गए। चूँकि प्राचीन हिन्दू लखनऊ भव्य राजप्रासादीय भवनों से भरा पड़ा था, मात्र इसीलिए तुच्छ शेखज़ादों से लेकर नवाबों तक सभी मुस्लिम विजेताओं ने इस (लखनऊ) नगर को, रातोंरात, अपनी राजधानी बना लिया था।

''(सआदतअली खान से आगे वालों को राजगद्दी पर बैठाने के लिए प्रयुक्त) 'लाल बारादरी' किसी समय अवध के प्रमुख व्यक्तियों का शव स्थान था। एक अति सुन्दर भवन है...(जिसे लाल रंग से रँग दिया है ताकि) आगरा और दिल्ली के लाल प्रस्तर-भवनों जैसा इसका प्रभाव हो।''[१७] कीन का कहना है।

यहाँ कीन ने यह भी नहीं कहा है कि किसी मुस्लिम व्यक्ति ने इसका निर्माण किया था। इसके विपरीत, दो स्पष्ट संकेत ऐसे हैं जो यह भवन हिन्दू होना दर्शाते हैं। सर्वप्रथम बात यह है कि लाल हिन्दुओं का रंग है। यह तो हिन्दू ध्वज का और हिन्दू संन्यासियों के वेश का रंग है। (१२ मेहराबों के तोरण का द्योतक 'बारा-द्वारी' अर्थात्) 'बारादरी' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। मुस्लिम लोग, कम-से-कम भारत में तो, लाल रंग से इतने चिढ़ने वाले हैं कि वे विजित (हिन्दुओं के) भवनों को तुरन्त ही सफ़ेदी से पोत देते हैं।

निर्माण-सम्बन्धी दावों के बारे में सामान्य मुस्लिम झूठ लखनऊ में गोमती नदी के ऊपर बने हुए पत्थर के पुल के बारे में भी अटल रूप से दोहराया जाता

---

१६. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६०।
१७. वही, पृष्ठ ६०-६१।

है। कहा जाता है कि "यह पत्थर का पुल सन् १७८० ई० के आसपास नवाब आसफ़उद्दौला द्वारा बनवाया गया था। यह एक अति सुदृढ़ संरचना है, और इसने अपना टिकाउपन इस प्रकार सिद्ध कर दिया है कि इसके निर्माण के बाद से अभी तक इसकी किसी भी प्रकार की मरम्मत की आवश्यकता नहीं हुई है।"[१८]

प्रत्यक्ष है कि उपर्युक्त वाक्य के लेखक के पास ऐसा कुछ नहीं है जिसे वह आसफ़उद्दौला द्वारा पुल का निर्माण कराने के बारे में आधिकारिक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सके। वह हमें बताता है कि "पुल सन् १७८० ई० के आसपास बनवाया गया था।" जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे आसफ़उद्दौला के भारी कर्ज़ों, उसकी फ़िज़ूलखर्ज़ी और व्यभिचारी आदतों के कारण सार्वजनिक परियोजनाओं के लिए उसके पास कोई धन बचता ही नहीं था। तथ्य तो यह है कि लखनऊ के सभी नवाब वैयक्तिक, श्रृंगारिक सुखोपभोग में इतने सराबोर थे और वे अपनी प्रजा को इतनी निचली श्रेणी की समझते थे कि उसके जीवित रहने का औचित्य, अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करने पर भी, उसका कर्त्तव्य यही था कि वह मुस्लिम नवाब की इच्छाओं को पूरी करे और उसकी तिजोरियों को सदैव भरती रहे।

पुल को देखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसके आलंकारिक हिन्दू अनुपन निर्माण और नदी-पाट के आर-पार तक फैली मेहराबों को देखकर आश्चर्य चकित और अवाक् रह जाएगा। किसी राजा की भारी पगड़ी के समान ही, इसके दोनों तरफ़, इसके कटघरे के साथ-साथ सुन्दर, विशाल हिन्दू वृत्ताकार छत्र बने हुए हैं।

आधुनिक लखनऊ की एक बस्ती के बाद दूसरी, और दूसरी के बाद तीसरी बस्ती का स्थापना-श्रेय इस या उस मुस्लिम सुल्तान को जिस निस्संकोच भाव से अवध प्रान्त के गज़िटियर में दिया गया है, उससे भी स्पष्ट हो गया है कि मात्र सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही जिला-गज़िटियर अत्यन्त अनुत्तरदायी रूप में संकलित, संपादित किए गए हैं। किसी ने भी उन दावों के सम्बन्ध में कोई आधिकारिक प्रमाण माँगने अथवा उनकी स्वयं जाँच-पड़ताल करने का कष्ट नहीं किया है। यह अनुभूति विस्मृत कर दी गई है कि लखनऊ की विभिन्न बस्तियाँ रामायणकालीन युग से ही विद्यमान चली आ रही हैं। अन्तर केवल इतना ही है

---

१८. लखनऊ-एलबम, पृष्ठ ४७-४८।

कि इस्लामी आग़ज़नी, लूट-खसोट और अपवित्रीकरण की शताब्दियों में प्राचीन भवनों की एक बहुत बड़ी संख्या लुप्त हो गयी तथा जनता, तब से, गन्दी बस्तियों की झोपड़ियों, झुग्गियों में रहने लगी है। सभी पुल, नहरें और नदी-तट पतनावस्था को प्राप्त होने लगे क्योंकि मुस्लिम शासन के अन्तर्गत घोर उपेक्षा और उपयुक्त रख-रखाव का अभाव रहा। उसी के कारण भूतकाल के स्मारक यशस्वी शोचनीय अनुस्मारक मात्र बने रहे थे।

पर्याप्त विचित्र बात यह है कि इन गज़िटियरों के संकलनकर्ताओं ने पहले स्वयं ही लिखा है किस प्रकार मुस्लिम सूबेदारों ने (भारत के अन्य स्थानों की ही भाँति) लखनऊ प्रान्त की विधिवत लूट की थी। लेकिन फिर भी वे अपने पूर्वकालिक आधिकारिक कथन को भुलाकर निस्संकोच भाव से कह देते है कि लखनऊ की इस या उस बस्ती की स्थापना इस या उस मुस्लिम सुल्तान या दरबारी ने की थी। इस सम्बन्ध में वे किसी अभिलेख अथवा साक्ष्य को प्रस्तुत नहीं करते है, मात्र उग्रवादी इस्लामी सुने-सुनाये दावों में अन्धाधुन्ध विश्वास जमा लेते हैं।

गज़िटियर में उल्लेख है—"हम अवध के सूबेदार की पदवी का उल्लेख सन् १२८० ई० में भी किया गया सुनते हैं। सन् १५३० में, अकबर ने हिन्दुस्थान के साम्राज्य को बारह सूबों में बाँट दिया जिनमें से एक अवध था (हर तीन-चार साल में) सूबेदार लगातार बदलते रहते थे। उनमें से अधिकांश व्यक्ति दिल्ली के कृपाभाजन थे जो वर्ष के अधिक भाग तक दरबार में रहते थे और फिर राजस्व (जो लूट-मार का छद्म, कोमल शब्द था) संग्रह के लिए अवध आ जाते थे, बिना कहीं ठहरे सभी जिलों में चलते रहते थे और जितना कुछ वे ले सकते थे उसे ले लेने के बाद, लौट जाते थे।"[१९]

मुस्लिम नवाबों ने लखनऊ में प्रायः नियमित रूप से रहने लगने के बाद भी अपनी प्रजा को अर्थदण्डित करना जारी रखा न केवल इसलिए कि वह उनकी जीवन-पद्धति थी अपितु इसलिए भी कि उनकी प्रजा में अतिविशाल बहुमत में हिन्दू काफ़िर थे जिनके प्रति घृणा करने और उनको दुधारू पशु के रूप में व्यवहार करने की परम्परागत शिक्षा उन नवाबों आदि को दी गई थी। हम अपने

---

१९. अवध प्रान्त का गज़िटियर, खण्ड [illegible], पृष्ठ ३६५।

इस निष्कर्ष के समर्थन में, आगे चलकर, अंग्रेज और मुस्लिम प्राधिकारियों को उद्धृत करेंगे।

स्पष्टतः यह भाव निहित करते हुए कि मुस्लिम सूबेदार अपनी शक्तिशाली शाही फ़ौजों के साथ, नंगी तलवारें लिये इस आशय से आते थे कि यदि उनकी अतिशय पीड़ाकारी माँगों का किसी भी प्रकार विरोध किया गया, तो विरोधियों को जान से मार डाला जाएगा—यह नितान्त लूट-मार का कार्य ही तो था। गज़िटियर हर्षोन्मत्त हो वर्णन करने में व्यस्त हो जाता है कि किस-किस सुल्तान ने लखनऊ की कौन-कौन-सी बस्तियाँ बनवायी थीं, उनकी स्थापना की थी। यहाँ आश्चर्य इस बात का होता है कि गज़िटियर का इस कथन से आशय क्या है कि मुस्लिम सुल्तानों ने लखनऊ की बस्तियों की स्थापना की थी? क्या लोगों ने अपने मकान स्वयं नहीं बनाए थे? क्या उनमें से अधिकांश हिन्दू नहीं थे? क्या वे लोग वहाँ चिर-विस्मरणीय युगों से बसे हुए नहीं थे? तब व्यावहारिक रूप में मुस्लिम सुल्तानों ने किया क्या था सिवाय इसके कि अराजक काल की मध्यावधि में लोगों ने जो कुछ संग्रह किया हो, उस समस्त धन-दौलत को उन्हीं सुल्तानों ने पुनः लूट लिया?

"बादशाह अकबर ने इस स्थान को बहुत पसन्द किया प्रतीत होता है," गज़िटियर का कहना है। एक दूर-दृष्टि सम्पन्न सम्राट् के रूप में अकबर लखनऊ को क्यों पसन्द करता जब तक कि वहां बने भव्य हिन्दू भवन भी उसके शाही संगी-साथियों को निवास-स्थान हेतु उपलब्ध न हो जाते? कुछ भी हो, अपनी असीम जलवायु के कारण लखनऊ स्वास्थ्य-प्रद केन्द्र-स्थान के रूप में तो आकर्षण की वस्तु हो नहीं सकता था। स्वयं नगर के रूप में भी, जैसा कि गज़िटियर ने ठीक ही लिखा है, सन् १२८० ई० से आगे लगातार मुस्लिम लुटेरों के आक्रमणों से लखनऊ उजाड़ हो गया था। इसलिए, एकमात्र आकर्षण यही हो सकता था कि इसमें हिन्दू भवनों का विशाल समूह हो जिसमें से हम मच्छी भवनों (जिन्हें आज कल दोनों इमामबाड़ों के रूप में जाना जाता है), पंचमहल और अन्य बहुत सारों की सूची ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं।

आसफ़उद्दौला के समय में "नगर के सभी मध्यवर्ती भाग बने हुए थे, और ५२ ग्रामों का निर्माण प्रारम्भ किया गया, कहा जाता था।"

एक प्रकार से उपर्युक्त दावा ठीक है परन्तु उस भावना से नहीं जिसके

अन्तर्गत लोग आजकल समझते हैं। हम इस बात को स्पष्ट कर देते हैं। सन् १२८० से ५०० वर्षों तक लगातार मुस्लिम धावों के कारण प्राचीन लखनऊ असीम दरारों वाला ध्वस्त नगर बन गया था। अतः, रामायणकाल का सुखद, भव्य, समृद्ध नगर अति भय-प्रद दृश्य प्रस्तुत करने लगा था। प्रत्येक लूट-मार के बाद दिल्ली के मुस्लिम-दरबार में शीघ्र उपस्थित होने को आतुर सुल्तानों के उन हमलों के कारण ही लखनऊ ग्राम के स्तर तक अवनत हो गया था। कहने का अर्थ यह है कि लखनऊ प्राशासनिक मुख्यालय नहीं रहा था। इसकी अवस्था का पूर्ण दिग्दर्शन अपने ही समय की 'फतहपुर सीकरी' से तुलना करके प्राप्त किया जा सकता है। हमारे अपने ही समय में 'फतहपुर सीकरी' एक ग्राम है यद्यपि इसमें एक कल्पनातीत राजभवन-संकुल समाविष्ट है और उसके चारों ओर हजारों की संख्या में लोग रहते भी हैं। इसी प्रकार, लखनऊ भी एक अति-विस्तृत नगर था जो नितान्त वीरान हो गया था। आसफ़उद्दौला जब स्थायी रूप से वहाँ निवास करने के लिए आया, तब इसमें कुछ परिवर्तन हुआ। उसके साथ हिजड़ों, लौंडों, धोबियों, नाइयों, हरम-महिलाओं, दलालों, चापलूसों तथा अन्य पिछलग्गुओं की भीड़ की भीड़ ही वहाँ पहुँच गई। यह भारी जन-समूह प्राचीन ध्वस्त घरों, मकानों पर अपने-अपने प्रबन्ध-हेतु टूट पड़ा। उन्होंने जिन पुराने ध्वंसावशेषों को हथियाया, उनमें जर्जर दीवारें और छतें जोड़ दीं। यही वह स्थान है जिसे आधुनिक लखनऊ कहते हैं। इसलिए एक नूतन-निर्माण के रूप में आधुनिक लखनऊ पर गौरवान्वित अनुभव करना तो दूर की बात रही, यह तो रामायणकालीन युग की प्राचीन भव्य, समृद्ध, अति सु-सम्पन्न एवं विस्तृत-विशाल लक्ष्मणावती की निरानन्द, उदासीन, मलिन प्रेतच्छाया ही शेष है। अतः गज़िटियर-वर्णन से, जिसका उल्लेख हम आगे करने वाले हैं, जो भी कुछ समझना है वह मात्र यही है कि मुस्लिम शासक और उनेक आश्रित व्यक्ति, दोनों ही, प्राचीन हिन्दू संरचनाओं में आकर निवास करने लगे, उनमें कभी-कभी मरम्मत और नवीनीकरण करना पड़ जाता था।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण से व्यक्ति इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह मुस्लिमों की सुनी-सुनाई बातों वाले दावों पर आधारित गज़िटियर-वर्णन में से निरर्थक, झूठी बातों को अलग ही परख ले। उदाहरण के लिए, ऊपर उल्लेख किए गए ५२ ग्राम प्राचीन हिन्दू लखनऊ महानगरी की विभिन्न बस्तियाँ थीं।

पर्याप्त जानकारी रखने के स्वर में ही यह गज़ेटियर हमें सूचित करता है—''(अकबर के बेटे) मिर्ज़ा सलीम शाह ने मिर्ज़ा मण्डी की स्थापना की थी।'' यह ऐतिहासिक निष्कर्ष इतना ही बालोचित है जितना यह कहना कि अल्लाहाबाद नगर की स्थापना तो स्वय अल्लाह ने ही की थी क्योंकि इसमें उसका नाम विद्यमान है। क्या हम यह नहीं जानते कि शासक लोग पुरानी बस्तियों को ही अपने नाम से पुकारने लगते हैं, उन पूर्ववर्ती बस्तियों के नाम बदल देते हैं। ''(बादशाह अकबर द्वारा नियुक्त जवाहर खान, सूबेदार के सहायक) बिलग्राम के काज़ी मुहम्मद ने चौक की दाईं और बाईं तरफ महमूद नगर और शाहगंज तथा दक्षिणी छोर पर अकबरी दरवाज़ा बनवाया था।''[२०]

एक अनुपस्थित सूबेदार का एक अनुपस्थित सहायक, एक काज़ी मात्र ही एक पूरी बस्ती अर्थात् हज़ारों निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिए मकान क्यों बनता? लोग खेती-बाड़ी और अन्य व्यवसाय से जो धन कमाते थे, उससे वे अपने लिए रहने का प्रबन्ध करते। क्या जनता से ऐसी आशा नहीं की जाती थी? और, किसी सहायक को यह अनुमति कैसे दी जा सकती थी कि वह अपने ही नाम के पीछे पूरी बस्ती का नामकरण कर दे? और फिर वह एकाकी, पृथक्, असम्बद्ध 'अकबरी दरवाज़ा' क्यों बनवाए? कुछ भी हो, एक दरवाज़ा तो विशाल दीवार में ही बनता है। यदि लखनऊ के चारों ओर, पूर्वकाल में एक विशाल दीवार थी, तो तथाकथित अकबरी दरवाज़ा पहले भी अवश्य विद्यमान रहा होगा। बादशाह की चापलूसी करने के लिए उसी प्राचीन द्वार का नाम अकबर के नाम पर परिवर्तित कर दिया गया होगा। एक प्राचीन द्वार पर, थोपे गए नाम के रूप में ही, यह चापलूसी प्रशंसा वह कार्य था जो सहायक, मुहम्मद बिलग्रामी ने किया। अन्य कुछ नहीं किया। विदेशी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत संकलित गज़ेटियरों द्वारा अन्धाधुन्ध रूप में उद्धृत मुस्लिम वर्णन ऐसे ही बारीक, नाजुक सूत्रों पर आधारित है।

''अगला सूबेदार, जिसका उल्लेख किया जाता है, सुलतान अली शाह कुली खान है जो पाँचवीं पीढ़ी के मुगल बादशाह शाहजहाँ के ज़माने का व्यक्ति था; इसके दो बेटे थे—मिर्ज़ा फ़ाज़िल और मिर्ज़ा मंसूर जिन्होंने फ़ाज़िलनगर और

२०. अवध का गज़ेटियर, खण्ड II, पृष्ठ ३६६।

मंसूरनगर बनाये थे, बसाए थे।''

यह इस बात का प्रत्यक्ष, स्पष्ट उदाहरण है कि किस प्रकार संस्कृत के अन्त्य शब्द 'नगर' से जानी जाने वाली लखनऊ की प्राचीन बस्तियों के नामों के आगे मुस्लिम नामों को जोड़ दिया गया था, और आंग्ल-मुस्लिम इतिहासकारों ने मात्र इस नाम परिवर्तन को ही उन बस्तियों की स्थापना का श्रेय किसी मुहम्मद या अमहद को, फ़ाज़िल या मंसूर को, जिसका नाम तुरन्त उपलब्ध हुआ, दे देने का सरल सूत्र समझ लिया। उन सभी दावों का नितान्त निराधार होना इस तथ्य से स्वतः सिद्ध है कि कोई भी इतिहासकार उन बस्तियों के काल्पनिक निर्माण के वित्तीय स्तर, अथवा ब्यौरे या व्यय-राशि के विवरण, उसकी तारीख अथवा प्राधिकारियों का उल्लेख नहीं करते हैं। एक विदेशी फ़ाज़िल, मंसूर अहमद या मुहम्मद का किसी ऐसी बस्ती के निर्माण में क्या हित होता जिस बस्ती में आवश्यकीय रूप में निवासियों का प्रबल बहुमत उन हिन्दुओं का ही था जिनसे वे घोर घृणा करते थे और जिनको वे अत्यन्त निम्न श्रेणी का समझते थे? और तथ्य यह है कि अभी तक किसी ने भी एक बस्ती की 'स्थापना' में निहित-भाव का अध्ययन करने का कष्ट नहीं किया है! इसका अर्थ यदि एक बस्ती के पूर्वकालिक हिन्दू नाम को मुस्लिम नाम में बदलना मात्र है, तो वह बात समझ में आ सकने योग्य है क्योंकि प्रत्येक विजेता ऐसा ही करता है। किन्तु यदि 'स्थापना' शब्द का अर्थ लगाया जाता है कि किसी फ़ाज़िल अथवा मंसूर ने भूमि का एक बंजर टुकड़ा विकसित किया अथवा किसी बड़े जंगल को साफ़ किया और सैकड़ों परिवारों के लिए अपनी ही ओर से मकान बनवाकर दिए, तो यह बेहूदा बकवास है। अतः किसी भी व्यक्ति को ये ऊल-जलूल मुस्लिम दावे स्वीकार, मान्य नहीं करने चाहिएँ कि इस या उस सुल्तान, नवाब, बादशाह, दरबारी, दरबारी के बेटे अथवा भ्रष्ट व्यक्ति ने एक के बाद एक बस्ती बसायी थी। मुस्लिम दावे तो बेहूदगी की उन सीमा तक चले गए हैं जिनमें कहा गया है कि आगरा और लखनऊ जैसे नगरों की बस्तियों की स्थापना धोबियों, कुम्हारों, वेश्याओं और नाइयों तक ने की थी। यह बात तो पूरी तरह समझ में आ सकती है कि जब लुटेरे विदेशी मुस्लिम नवाब और सुल्तान भारत पर टिड्डी-दल की भाँति चढ़ आये थे, तब इस प्रकार के दावे स्वयं उत्पन्न हो जाएँ और उनका कोई प्रतिवाद न करे। किन्तु इतिहास का इस प्रकार असत्यकरण और विपरीत-अर्थकरण, बिना किसी

चुनौती के, अनुमत्य नहीं होना चाहिए। सभी दावों को उपयुक्त प्रकार से सिद्ध किया जाना चाहिए जबकि अनायास देखने पर भी वे बिल्कुल बेहूदा प्रकट होते है।

ऐसे बेहूदा दावों में से कुछ अन्य उदाहरण भी देखिए। ''अशरफ़ अली खान नामक एक रिसालदार से चौक की पूर्व दिशा में अशराफ़ाबाद बनवाया-बसाया, उसके भाई ने मुशरफ़ाबाद अथवा नौबस्ता बसवाया-बनवाया, पीरखान नामक एक अन्य रिसालदार ने गढ़ी पीरखान बसायी-बनवायी, मुहल्ला रानी कटरा बादशाह मुहम्मदशाह के ज़माने में गिरधा नाग नामक सूबेदार की पत्नी ने बनवाया-बसाया था...।'' इस प्रकार 'सैरुल-मुताख़रीन' नामक मुस्लिम तिथिवृत्त का लेखक बड़े मजे और ग़ैर-जिम्मेदारी से लखनऊ कि विभिन्न बस्तियों के नामों का श्रेय अत्यन्त नगण्य व्यक्तियों को देता जाता है, मन में इस विश्वास को जमाए हुए कि उसकी मृत्यु के बाद तो कोई व्यक्ति उससे यह नहीं पूछ पाएगा कि उसकी उपजाऊ कल्पना-शक्ति ने उन अतिकाल्पनिक नामों की कल्पना किन आधारों पर कर ली थी। रचनाकार की मृत्यु के बाद तो ऐसे तिथिवृत्त मूलतः आधिकारिक विश्वास किए जाने लगते हैं और उनके सन्दर्भ प्रस्तुत किए जाने लगते है। और निश्चित बात भी यही है कि अवध के गज़ेटियर का संकलन करने वाला प्रवंच्य ब्रिटिश व्यक्ति, ऐसी मुस्लिम शैक्षिक मूर्खतापूर्ण और काल्पनिक बातों का शिकार हो गया। यही वह तत्त्व है जिसने समस्त भारतीय मध्यकालीन इतिहास और विश्वभर में मुस्लिम इतिहास के अध्ययन को दूषित, अशुद्ध, असत्य कर दिया है। अब विश्वभर के सभी इतिहासकारों को स्मरण रखने की जो बात है वह यह है कि मुस्लिम तिथिवृत्त में तब तक रंचमात्र भी विश्वास न करो जब तक उसमें किए गए दावों और कही गई बातों की पुष्टि, उनका समर्थन अन्य साक्ष्य/साक्ष्यों से न हो।

स्वयं एक हिन्दू सूबेदार की पत्नी के नाम पर रखा गया 'रानी कटरा' भी गलत है। यह तो स्पष्टतः उन दिनों की याद दिलाता है जब मुस्लिम-पूर्वकाल में लखनऊ पर हिन्दू राजाओं का शासन चलता था।

चूँकि लखनऊ के बारे में लिखी गई सभी प्रचलित पुस्तकों में विभिन्न बस्तियों के बारे में ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ यन्त्रवत् दोहरायी गई है, इसलिए हम अब और अधिक उनका हवाला प्रस्तुत नहीं करेंगे। ऊपर हमने जिन उद्धरणों को प्रस्तुत

किया है, वे अन्यों के प्रतीक, प्रतिनिधि ही हैं। किन्तु लखनऊ में शिक्षित व्यक्ति, और स्वयं लखनऊ विश्वविद्यालय से सम्बन्धित व्यक्तियों सहित लखनऊ के इतिहास का कुछ ज्ञान रखने का दावा करने वाले व्यक्तियों तथा पत्रकारों के लिए यह अत्यन्त लज्जा की बात है कि वे नितान्त बेहूदे, उग्रवादी मुस्लिम दावे में पूर्ण विश्वास जमा बैठे हैं।

इस दयनीय, शोचनीय प्रवंचता के कई पक्ष है। उदाहरण के लिए, विभिन्न बस्तियों और भवनों का निर्माण-श्रेय न केवल विभिन्न नवाबों और अन्य नगण्य व्यक्तियों को दिया जाता है तथापि साथ-ही-साथ यह भी कहा जाता है, विश्वास भी किया जाता है कि आसफ़उद्दौला आधुनिक लखनऊ के अधिकांश भाग का निर्माता था। कहा जाता है कि प्रथम नवाब सआदत खान ने ''सैयद हुसैन खान, अबू तुरब खान ने कटरों को, बाग महानारायण और खुदायार खान, बिज्ञानवेग खान, सराय माली खान और इस्माइलगंज को भी बनवाया था।''[२१]

यहाँ अनेक बेहूदगियाँ हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं। जनता में सामान्य विश्वास यह है कि पहला नवाब सआदत खान अधिकांशतः फैजाबाद में रहा करता था, और व्यावहारिक रूप में उसका लखनऊ से कोई सरोकार नहीं था। यदि यह बात सत्य होती, तो वह लखनऊ में बस्तियाँ क्यों बनवाता-बसाता? साथ ही, वह उन बस्तियों के नाम ऐसे व्यक्तियों के नामों पर क्यों रखता जिनको उसके शासन में कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था? उदाहरण के लिए, वह किसी भाग का नाम 'बाग महानारायण' क्यों रखता? जब उग्रवादी मुस्लिम वर्णनों की ऐसी सूक्ष्म जाँच-पड़ताल की जाती है तब स्पष्ट हो जाता है कि आज तक भी लखनऊ में कुछ प्राचीन बस्तियों के हिन्दू नाम मुस्लिम शासन की दमनात्मक शताब्दियों के बावजूद ज्यों-के-त्यों बने रहे हैं। उदाहरण के लिए 'बाग महानारायण' शब्द-समूह इस बाद का द्योतक है कि महानारायण का भव्य हिन्दू मन्दिर गिरा दिया गया था, भूमि पर हल चला दिया गया था। उस क्षेत्र में खुदाई करने वाले पुरातत्व-कर्मचारियों को महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धियाँ प्राप्त होनी सम्भव है। लखनऊ की वाजपेयी बस्ती उन महान वाजपेयी यज्ञ-सम्बन्धी कर्म-काण्ड की पुण्य-भूमिस्थली का स्मरण दिलाती है जहाँ प्राचीन हिन्दू अपने धर्म-कर्म की

---

२१. अवध प्रान्त का गज़ेटियर, खण्ड दो पृष्ठ ३७६।

विधियों को सम्पन्न किया करते थे। कुछ मुस्लिमों अथवा उनके गैर-मुस्लिम सह-यात्रियों ने यह मनगढ़न्त कथा प्रचारित कर दी है कि हिन्दू वाजपेयी धार्मिक विधि के कार्यान्वयन हेतु मुगल बादशाह अकबर ने एक भारी धन-राशि का अनुदान संस्वीकृत, मंजूर किया था। वे भूल जाते है कि अकबर पक्षपाती, कट्टर धर्मान्ध औरंगज़ेब का पितामह और नर-संहारक तैमूरलंग का वंशज था। अकबर भी उतना ही धर्मान्ध मुस्लिम शासक था जितना अन्य कोई भी मुस्लिम, और इसीलिए सामान्यतः हिन्दू रीति-रिवाजों को संरक्षण प्रदान करने के बारे में उसे दिये जाने वाले श्रेय का इतिहास में कोई आधार उपलब्ध नहीं है।[२२]

अन्य बस्तियों पर थोपे, लगाए गए मुस्लिम नाम मात्र ऊपरी टीप-टाप ही थी। जिस प्रकार नर-संहारक मुस्लिम लोग सुरक्षा-हीन व्यक्तियों को पकड़ लेते थे और उनके विवश कर देते थे कि वे इस्लाम को अंगीकार करें, इसी प्रकार के बस्तियों के हिन्दू नामों को दबा देते थे और उन पर मुस्लिम नामों को लाद देते थे। अतः, किसी भी व्यक्ति को यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि लखनऊ की किसी भी बस्ती को अथवा उसके किसी भी ऐतिहासिक भवन को बनवाने का आदेश लखनऊ के किसी विदेशी मुस्लिम शासक ने दिया था। तथ्य तो यह है कि इतिहास को इतनी बुरी तरह से पूरा का पूरा उलट-पुलट दिया गया है कि लखनऊ के विनाशकर्ताओं को ही कोमल-कान्त पदावली में उसके निर्माताओं की संज्ञा से विभूषित किया गया है। यदि आज लखनऊ वीरान, ह्रासमान, दीमक से खाया हुआ, पतन की कगार पर स्थित, जर्जर दृश्य प्रस्तुत करता है तो इसका कारण मुस्लिम शासन की वे शताब्दियाँ ही है जिनमें इसको निर्दयतापूर्वक लूटा-खसोटा गया था, और इसके मन्दिरों व भवनों को या तो जीता और (अपने) मुस्लिम-उपयोग में ले लिया गया था अथवा नष्ट कर दिया गया था। यही वह कहानी है जिसे हम अगले अध्याय में विविध नवाबों के शासनकालों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर, आप सब लोगों को सुनाना चाहते है।

---

२२. देखिए श्री पु०ना० ओक की पुस्तक "कौन कहता है अकबर महान था?"

४

लखनऊ की नवाबी

दिल्ली से शासन करने वाले मुगल बादशाह ने अपने वजीर को, जागीर के रूप में ही, प्रारम्भ में अवध प्रान्त दान में दिया था। वास्तविकता के रूप में, व्यावहारिक दृष्टि से, वज़ीर दिल्ली से दूर होने पर, अपने लखनऊ के आसपास वाले क्षेत्र में स्वयं नवाब के रूप में ही व्यवहार किया करता था। अतः, पहली कुछ पीढ़ियों तक इस पदवी को धारण करने वाले व्यक्ति नवाब—वजीर कहलाते रहे। बाद में, वे पद-धारी मुगल बादशाहों की नाराज़गी के शिकार हो गए, और उन्होंने दिल्ली की राजगद्दी पर अपनी नज़ारत का प्रभाव खो दिया। फिर, उन्होंने स्वयं को अवध के प्रान्त तक ही सीमित रखना शुरू कर दिया। तत्पश्चात्, मुग़ल-शक्ति क्षीण होते-होते तथाकथित नवाब—वज़ीर ब्रिटिश गवर्नर जनरल के अधीन हो गए और अन्ततोगत्वा उनका प्रान्त हड़प लिये जाने तक वे अवध प्रान्त के मालिकों के रूप में स्वीकार किए जाते रहे।

अवध के शासकों की सूची देते हुए मेजर ए०टी० एण्डर्सन ने लिखा है—"अवध का साम्राज्य सआदतअली खान द्वारा स्थापित किया गया था। यह नैशपुर से आया हुआ फ़ारसी व्यापारी था जिसे सन् १७३२ ई० में दिल्ली के बादशाह द्वारा अवध का सूबेदार बना दिया गया था।" इस वंश के शासक निम्नलिखित प्रकार हुए है—

सआदतअली खान	सन् १७३२ से १७३९ तक
सफ़दरजंग	सन् १७३९ से १७५३ तक
शुजा द्दौला	सन् १७५३ से १७७५ तक
आसफउद्दौला	सन् १७७५ से १७९७ तक

(बड़ा इमामबाड़ा, रेज़िडेन्सी और बीबियापुर घर इसी नवाब द्वारा बनवाए गए कहे जाते है)।

सआदतअली खान (II) (१७९८ से १८१४)—इस नवाब

को,मेरियाओं का पुराना कैण्टोनमैण्ट, दिलकुशा घर, कुन्दर कोठी, मोतीमहल और राजा की पशुशालाएँ (जिसको 'गदर' से कुछ समय पूर्व यूरोपीय बंरकों के रूप में उपयोग में लाया गया था, और बाद में लारेंस टैरेस के नाम से पुकारा गया था) आदि बनवाने का श्रेय दिया जाता है।

गाज़ीउद्दीन हैदर (१८१४ से २६)—हुसैनाबादी इमामबाड़ा इसी का बनवाया कहा जाता है।

नसीरुद्दीन हैदर (१८२६-३७)—विलायती बाग, बादशाह बाग और तारवाली कोठी इसी नवाब द्वारा बनवाई गई कही जाती है।

मुहम्मद अली शाल (१८३७-८२)—छोटा इमामबाड़ा इसके द्वारा बनवाया गया कहा जाता है।

अमज़ादअली शाह (सन् १८४२ से १८४७ तक)—लोहे का पुल इसी के शासनकाल में बनाया गया था, ऐसा कहा जाता है।

वाजिदअली शाह (८४७ से ५६)—भारत में बिटिश सत्ता की नयी स्थापना द्वारा वह भू-भाग हड़प लिये जाने पर वाजिदअलीशाह के बाद अवध के साम्राज्य का नामों-निशान भी समाप्त हो गया।[1]

यह सामान्य धारणा, कि आसफ़उद्दौला बहुत महान भवन-निर्माता था और यही वह व्यक्ति था जिसने आधुनिक लखनऊ की स्थापना की थी, स्पष्टतः मात्र सुनी-सुनायी बातों पर आधारित है, जैसा कि उसी के वंशजों के नाम के सामने लिखे हुए अनेक अन्य भवनों की सूची से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, इस पुस्तक में हम साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले है, जो स्पष्ट दर्शाता है, कि आसफ़उद्दौला ने तो उन भवनों का निर्माण भी नहीं करवाया था जिन कुछ का श्रेय उसे दिया गया है, और वह दावा भी मात्र सुनी सुनायी बात ही है।

स्वयं यह धारणा भी कि उसने लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया था, उस भावना से उचित नहीं है जिस प्रकार यह समझी जाती है। इस क्षेत्र के मुस्लिम शासकों की राजधानी, सदैव लखनऊ ही रही थी। तथ्य तो यह है कि नवाबों के

१. 'लखनऊ का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ २।

खानदान में सर्वप्रथम नवाब सआदतअली खान ने भी अपने पैर, सर्वप्रथम, लखनऊ में ही जमाए थे। वहीं से, वह अपनी लोलुप गिद्ध-दृष्टि अयोध्या की बची हुई हिन्दू जागीर पर लगाए रहा, उस पर आँखें तरेरता रहा। (अयोध्या का नाम ही बाद में लुटेरे मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा फैज़ाबाद कर दिया गया था।) यातना और आतंक-त्रास की दैनंदित विधि द्वारा ही वहाँ का शासन उखाड़ फेंका गया था। उसी समय से वह उस क्षेत्र से दशमांश लेने, और यदि सम्भव हो तो, उस क्षेत्र से हिन्दू जनता, संस्कृति और भवनों को समूल समाप्त करने में लगा रहा, जैसी मध्यकालीन मुस्लिम प्रवृत्ति रही है। किन्तु लखनऊ और फैज़ाबाद तो पहले तीन नवाबों की भी संयुक्त राजधानियाँ रही हैं। आसफ़उद्दौला ने संयुक्त राजधानी के रूप में फैज़ाबाद का परित्याग कर दिया था क्योंकि वह अपनी माँ और दादी, दोनों को ही घोर घृणा करता था तथा उनके पास फैज़ाबाद में नहीं रहना चाहता था। इस बात से हम यह निष्कर्ष निकालते है कि यद्यपि मुस्लिम शासन में उस क्षेत्र की राजधानी सदैव लखनऊ नगर ही रहा था, तथापि अस्थायी रूप में सआदतअली से लेकर आसफ़उद्दौला तक लूटमार करने के मुख्यालय के रूप में फैज़ाबाद को भी सम्मान प्राप्त था। आसफ़उद्दौला ने, अन्त में, लखनऊ को एकमेव राजधानी बनाने के उद्देश्य से ही फैज़ाबाद से बिल्कुल नाता तोड़ लिया।

लखनऊ के नवाबों के घराने के संस्थापक सआदतअली खान के बारे में कहा जाता है कि "नैशपुर का यह फ़ारसी व्यापारी दिल्ली में उच्च सत्ता प्राप्त तथा प्रभावी व्यक्ति बन गया। कारण यह था कि उसने बादशाह मुहम्मदशाह को सैयद भाइयों की दासता से आत्म-मुक्ति दिलाने में बहुत अधिक मदद की थी। उसे 'बुरहानुल मुल्क' की पदवी का सम्मान दिया गया था। सन् १७३२ में उसे अवध का सूबेदार बना दिया गया।"[2]

चरित्रहीन, अवसरवादी और घमण्डी, जैसा वह था ही, यह सआदतअली खान फ़ारसी आक्रमणकारी नादिरशाह की तरफ़ जा मिला जब उसने दिल्ली को लूटा। सआदत अली के अधीन फौज़ का सफ़ाया किया और २३ फरवरी, सन् १७३९ को सआदत अली को बन्दी बना लिया था। मुगल बादशाह के प्रति अपनी निष्ठा को भुलाते हुए, मात्र इस आधार पर कि नादिरशाह और उसकी

२. लखनऊ—एक गज़ेटियर, खण्ड ३७, पृष्ठ १४६।

अपनी राष्ट्रीयता साझी फ़ारसी ही थी, तथा उसका सम्बन्ध भी नादिरशाह की ही भाँति इस्लाम के शिया सम्प्रदाय से था, उसने स्वयं को नादिरशाह की तरफ़ ही कर दिया। नादिरशाह को यह तो बहुत ही उपयुक्त था कि मुगल दरबार का एक अति-शक्तिशाली और प्रभावी दरबारी उसकी ओर आ मिला, किन्तु प्रत्यक्षतः नादिरशाह को भी संदेह था कि सआदतअली खान की स्वामिभक्ति विभाजित थी। सम्पूर्ण मुगल ख़ज़ाने को समर्पित कर देने की नादिरशाह की माँग पूरी करते हुए सादतअली खान थरथराने लगा। सआदतअली खान प्रत्यक्षतः इस स्थिति में नहीं था कि वह सभी मुस्लिम दरबारियों को तैयार कर सके कि वे अपनी सम्पूर्ण दौलत फ़ारसी आक्रमणकारी के सम्मुख समर्पित कर दें। एक अन्य कारण यह भी था कि अन्य दरबारी सआदत अली खान और आक्रमणकारी नादिरशाह, दोनों से ही घृणा करते थे। वे दोनों शिया सम्प्रदाय के थे, जबकि मुगल-दरबार में रहने वालों का बहुमत सुन्नी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था। व्यक्तिगत रूप में उन दोनों सम्प्रदायों में परस्पर घोर वैमनस्य रहता था, परन्तु हिन्दुओं को अर्थदण्ड देने और उनकी हत्या करने तथा अपने बन्दियों को त्रास व आतंक द्वारा पीड़ित कर, इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य करने में शिया और सुन्नी दोनों एक ही थे।

नादिरशाह ने इस देशद्रोही और अविश्वासी सआदत अली पर पहले तो बहुत अधिक कृपा इस आशा से की कि वह बिना लड़ाई किए ही सारी मुगल धन-दौलत तश्तरी में रखकर नादिरशाह को भेंट कर देगा।[3] स्पष्टतः यह आदेश इतना बड़ा था कि सआदत अली उसका पूरी तरह पालन कर ही नहीं सकता था। सआदत अली अब साँप-छछूँदर की गति को प्राप्त हो गया था। वह न तो नादिरशाह का वैर मोल ले सकता था और न ही उस मुगल दरबार का पुनः कृपा-भाजन हो सकता था जिसे उसने स्वयं ही धोखा दिया था। नादिरशाह की लोलुप माँगों की पूर्ति करने के योग्य न होने पर उसे नादिरशाही कोप का शिकार होना पड़ा।

'ज़वाहरे-समसम' नामक तिथिवृत्त के लेखक मुहम्मद मुहसिन के अनुसार नादिरशाह ने सआदत अली खान को पूरी तरह से, साफ़-साफ़ और अत्यन्त घटिया तरीके से बुरा-भला कहा और उसके मुँह पर थूक भी दिया। उसने सआदत

३. श्री आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव विरचित 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ ६४-७२।

अली को कोड़े लगाने और अन्य प्रकार से यातनाएँ भी देने की धमकी दी। इससे फ़ारस के घुमक्कड़ की, जिसने मौत और सर्वनाश के व्यापार से भारत में अपनी किस्मत बना ली थी, न केवल अक्ल ठिकाने लग गयी अपितु उसे बहुत मर्मभेदी बातें भी सुननी बड़ी थीं। मुगल दरबार में आतंक, महान् योद्धा और तलवार का धनी सआदत अली सचमुच का चूँ-चूँ करने वाला और दुम दबाकर चलने वाला चूहा मात्र रह गया था जो अपने सह-राष्ट्रीय और सह-सम्प्रदायवादी आक्रमणकारी नादिरशाह के हाथों खुले-आम कोड़े लगने और स्वयं अपने ही जीवन से आशंकित हो गया था।

सआदतअली अली सतत् देख-रेख के अधीन ही बना रहा। घृणित नज़रबन्दी और तिरस्कार की टीस को सहन न कर पाने के कारण तथा भीषण यातनाओं द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो जाने की भयंकर कल्पनाओं से भयभीत होकर सआदत अली ने, जिसका पाप का प्याला पहले ही लबालब भर कर बह रहा था, १९ मार्च सन् १७३९ ई० की रात्रि को ज़हर का प्याला अपने होंठों से लगा लिया और सवेरा होने से पूर्व ही प्रेत हो गया। इस प्रकार, अवध के प्रथम नवाब की ज़िन्दगी कठिनाई, निराशा और घोर तिरस्कार में समाप्त हो गई।यह एक ऐसा अभिशाप था जो उस वंश के प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ा, हर एक को इसे भोगना पड़ा।

सआदतअली खान का उत्तराधिकारी अबुल मन्सूरअली खान उपनाम सफ़दरजंग तो साक्षात् नरकदूत ही था क्योंकि वह साथी हिन्दू शासकों को मैत्रीपूर्ण वार्तालाप के लिए अपने भवन में बुलाने का प्रलोभन दिया करता और वहाँ धोखे से उनकी निर्मम हत्या करवा देता था। मुस्लिम अत्याचारों और विभीषिकाओं से सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान वाराणसी को मुक्त कराने के लिए जब मराठे लोग आक्रमण करने की योजना बना रहे थे, तब यही वह व्यक्ति था जिसने धमकी दी थी कि नगर के सभी हिन्दू पुरोहितों को एक जगह जमा कर दिया जाएगा और उनको सर्वजनिक रूप से, चौराहे पर जीवित जला दिया जाएगा।

सफ़दरजंग, सआदत अली का भतीजा और जँवाई था। बाद में, उसे भी नवाब-वज़ीर का पद प्राप्त हुआ था। उसका नाम अबुल मन्सूरअली खान था। सफ़दरजंग उसकी पदवी थी। उसके बारे में लिखा हुआ है—''नवाब वज़ीर अबुल मन्सूर खान दिल्ली में रहता था, किन्तु बैसवाड़ा के बैस लोगों को डराने''

के लिए उसने (लखनऊ) नगर के दक्षिण से लगभग तीन मील की दूरी पर जलालाबाद[४] का किला बनवाया था; और उसने शेखों से उनका पंचमहल[५] अर्थात् पाँच मंजिल वाला भवन ले लिया—इसके बदले में उनको दुगाव्वन में ७०० एकड़ भूमि दे दी[६] और उनके पुराने सुदृढ़ किले का अपने लिए पुनर्निर्माण[७] करा लिया जो इसके बाद से 'मच्छी भवन किला'[८] कहलाने लगा।...उसके नायक (सहायक), नवल राय ने पत्थर के पुल के कूपकों को, जो पुल नदी के ऊपर मच्छी भवन किले से जाता है, डुबो[९] दिया, किन्तु इसे पूर्ण करने के लिए वह जिन्दा न रह पाया...यह आसफ़उद्दौला के समय तक पूर्ण न हो पाया था।"[१०]

---

४. सफ़दरजंग द्वारा जलालाबाद का किला बनवाने का दावा ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे सब दावे निराधार पाए गए हैं। ये सभी किले अविस्मरणीय युग से भारत में विद्यमान रहे हैं। मुस्लिम आक्रमणकारी, उन किलों पर कब्जा कर लेने पर उनके नाम को ही बदल दिया करते थे।

५. सफ़दरजंग ने शेखों से जिस पंचमहल अर्थात् पाँच-मंजिलों वाले भवन को छीना था, उसी भवन को शेखों ने भी लखनऊ के पूर्वकालिक हिन्दू शासकों से छीन लिया था। यह एक प्राचीन, पूर्वकालिक हिन्दू भवन था।

६. सफ़दरजंग द्वारा, बदले में कुछ ७०० एकड़ भूमि दिये जाने वाली बात मात्र गप्प ही हो सकती है जिसे किसी मुस्लिम तिथिवृत्त लेखक ने वैसे ही लिख दिया हो जैसे कहा जाता है कि ताजमहल के बदले में शाहजहाँ ने भी जयसिंह को कुछ भूमि दे दी थी।

७. 'दुगाव्वन' संस्कृत शब्द 'दुर्गाभवन'—अर्थात् दुर्गा का वन अथवा उद्यान है। 'पुनर्निर्माण' अस्पष्ट शब्दावली है जो मुस्लिम तिथिवृत्त लेखन का सामान्य छल-कपट है। इसका, इसके अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं है कि सफ़दरजंग ने शेखों को बलात् बाहर निकालकर, अतिप्राचीनकाल से विद्यमान हिन्दू मच्छी भवन को अपने अधिकार में ले लिया था। चूँकि मुस्लिम दरबार के चापलूसों को यह स्वीकार करना बुरा, अशोभनीय लगता था कि उनके मालिक पुराने हिन्दू भवन में निवास करते थे, अतः वे किसी भवन के पुनर्निर्माण के बारे में कोई भी प्रमाण प्रस्तुत करने की समस्या से स्पष्ट रूप में बच जाते थे।

८. 'मच्छी भवन' नाम तो सफ़दरजंग से पूर्व भी विद्यमान था।

९. पत्थर के पुल के कूपक धँसाने के लिए नवल राय को श्रेय देना भी इस प्रकार अप्रत्यक्ष प्रयत्न है जिसके अंतर्गत गोमती नदी पर बने हुए प्राचीन हिन्दू पुल के बनाने का श्रेय भी मुस्लिम नवाब के शासनकाल को दिया गया है। बिना किसी प्रमाण के, इतिहासकारों को ऐसे दावे मान्य, स्वीकार नहीं करने चाहिएं। जब सफ़दरजंग नवाब था, तब नवल राय को क्या रुचि हो सकती थी किसी पुल का निर्माण प्रारम्भ करवाता? यह कहना एक अन्य बेहूदगी है कि पुल को आसफ़उद्दौला द्वारा पूरा किया गया था क्योंकि वह तो सफ़दरजंग से दो पीढ़ी बाद हुआ था। यह वह कपट-जाल है जिसके अन्तर्गत नवल राय अथवा आसफ़उद्दौला, किसी से भी कोई सरकारी दस्तावेज प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

१०. ऊपर उद्धृत अवतरण 'अवध प्रान्त के गजटियर' खण्ड II के पृष्ठ ३६७ से लिया गया है।

"अबुल मन्सूरअली खान ने फ़ैज़ाबाद में फूस का घर—एक बँगला भी बनवाया था—फ़ैज़ाबाद शुजाउद्दौला के अधीन प्रान्त की राजधानी हो गया। यह भवन अभी भी 'बंगला' कहकर ही पुकारा जाता है।"[११]

हो सकता है कि सफ़दरजंग उपनाम अबुल मन्सूरअली खान ने फ़ैज़ाबाद में एक खण्डित, ध्वस्त हिन्दू भवन के ऊपर मात्र फूस का छप्पर ही डाला हो—इस भवन की छत मुस्लिम आक्रमणों के कारण विनष्ट हो समाप्त हो गई होगी। अन्यथा वह ऐश्वर्यपूर्ण और गरम-मिजाज सफ़दरजंग फूस के छप्पर के नीचे क्यों रहता?

ऊपर दिया हुआ यह पर्यवेक्षण कि फ़ैज़ाबाद शुजाउद्दौला के अधीन प्रान्त की राजधानी हो गया था, उस धारणा का स्पष्ट तिरस्कार है जिसे अधिकांश इतिहासकारों ने अंगीकार किया हुआ है कि लखनऊ, प्रान्त की राजधानी मात्र उस समय बन गया था जब आसफ़उद्दौला ने फ़ैज़ाबाद से अपनी राजधानी बदल दी थी। हमने पूर्व-पृष्ठों मे अनेक स्थानों पर संकेत दिया है कि लखनऊ तो सभी समय राजधानी बना रहा था। अवध का गज़िटियर हमारी इस मान्यता की पुष्टि करता है कि फ़ैज़ाबाद को तो लखनऊ के मुस्लिम नवाबों ने अपने वैकल्पिक निवास-स्थान के रूप मे मात्र उस समय चुन लिया जिस समय वे निकटवर्ती हिन्दू क्षेत्र में अपनी धर्मान्धता का इस्लामी जहरीला दुधारा तेजी से चलाते थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राजस्थान में हिन्दू रजवाड़ों के विरुद्ध अपने लूट-मार के अभियान चलाने के लिए अकबर अजमेर में प्राचीन हिन्दू राजभवनों में निवास कर लिया करता था।

दिल्ली में सफ़दरजंग का भाग्य-सितारा एक-सा स्थिर नहीं रहा। उसके विश्वासघाती स्वभाव के कारण अन्य दरबारी भी उससे घृणा करने लगे थे। पठानों द्वारा आक्रमण के समय अपनी जान बचाने के लिए सफ़दरजंग को लखनऊ से भी एक बार अल्लाहाबाद के किले में भागना पड़ा था। पठान-मुस्लिम लोग भी समान रूप में अत्याचारी थे ऐसा डॉ० श्रीवास्तव ने लिखा है—"अफ़गान कोतवाल की नृशंसता से लोगों की सहानुभूति शीघ्र ही समाप्त हो गयी...एक सम्मानित नागरिक और नेता ने बंगश प्रमुख को, जो लखनऊ के

---

११. यथोपरोक्त।

बाहर ठहरा हुआ था, उसके अधीनस्थ व्यक्तियों के द्वारा बलात् अपहरण और उत्पीड़न के दुष्परिणामों की बात उसके गले उतारने की भरसक कोशिश की थी।''[१२]

सम्माननीय वार्तालापों के प्रतिवादों पर प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने अन्दरूनी निजी काम के कमरे में बुलाने और धोखे से उनको मार डालने के सफ़दरजंग के दुष्टता भरे स्वभाव के बारे में डॉ० श्रीवास्तव उस उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं जिसमें कहा गया है कि ''सफदरजंग ने प्रतापगढ़ के (राजा पृथ्वीपति को) एक मैत्रीपूर्ण पत्र भेजकर अनुरोध किया था कि वे स्वयं उसके शिविर में व्यक्तिगत रूप से उपस्थित हों। पृथ्वीपति ने कहना मान लिया। साक्षात्कार के समय सफ़दरजंग ने अपनी मीठी-मीठी और मित्रतापूर्ण बातों से राजा (पृथ्वीपति) को असावधान रखा, तथा साथ ही अपने एक अति विश्वासपात्र अंगरक्षक अलीखान खेरजी को इशारा कर दिया। भावना-शून्य सैनिक के रूप में खान ने बहुत चपलता से राजा के पेट की बाईं तरफ खंजर भोंक दिया। असंशयशील शिकार व्यक्ति राजा ने, जो पूरी तरह शस्त्रहीन था, अपने हत्यारे के ऊपर झपट्टा मारा, उसके गले का माँस काट लिया और वहीं मृत होकर लुढ़क गया। इस काले कारनामे के लिए उसने (सफ़दरजंग ने) हत्यारे को शिताबजंग (युद्ध में स्थिर) की पदवी से विभूषित कर दिया।''[१३]

उपर्युक्त अवतरण के रचनाकार डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, अलीबेग को 'भावना-शून्य सैनिक' वर्णित करने में पूर्णतः सही नहीं है क्योंकि मध्यकालीन मुस्लिमों में तो यह अत्यन्त वीरता और यश का कार्य माना जाता था कि किस प्रकार भी सम्भव हो, अधिकाधिक संख्या में हिन्दुओं को मार डाला जाए। इस प्रकार अली बेग ने पूर्णतः भावुक होकर इस कार्य को सम्पन्न किया। इस धरती पर अपने स्वामी सफ़दरजंग को और बहिश्त में अपने अनन्य मालिक खुदा, अल्लाह को खुश करने के लिए हत्यारे का कर्त्तव्य बखूबी निभाया।

डॉ० श्रीवास्तव सफ़दरजंग की घातक, हत्यारी कूटनीति का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आपने लिखा है—''सफदरजंग ने इसी प्रकार बनारस

---

१२. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, अवध के प्रथम दो नवाब, पृष्ठ १५८।
१३. वही, पृष्ठ १८४।

(वाराणसी) के राजा बलवन्तसिंह को भी व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होने के लिए निमन्त्रित किया, किन्तु वह राजा पर्याप्त चतुर होने के कारण पृथ्वीपति के समान भुलावे में न आ सका।''[१४]

उपर्युक्त कथन सिद्ध करता है कि पृथ्वीपति की घोर अविश्वास से हत्या एकाकी घटना न होकर, सफ़दरजंग की खूब सोच-समझकर निश्चित की हुई लघु-प्रणाली थी। दन्तकथागत 'नीली-दाढ़ी वाले' के समान ही, सफ़दरजंग लोगों को आतिथ्य के लिए अपने घर बुलाने का प्रपंच करता था और वहाँ उनकी हत्या करवा देता था। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त करने का यह उसका सरल ढंग था, क्योंकि युद्धभूमि में जाकर युद्ध करने में तो जोखिम था कि कहीं स्वयं उसी की हत्या न हो जाए।

जब सफ़दरजंग दिल्ली के मुगल दरबार में सदर-वजीर (मुख्यमंत्री) था, तब उसी पद का एक अन्य प्रतिद्वन्दी जावेद खान नामक एक हिजड़ा भी था। आहिस्ता-आहिस्ता यह व्यक्ति मुगल बादशाह का अति प्रिय व्यक्ति हो गया और सफ़दरजंग को ऐसा अनुभव होने लगा कि वह तो वज़ीर नाममात्र का ही रह गया था, और असली शक्ति जावेद खान के हाथों में जा पुहँची थी। इसलिए, सफ़दरजंग ने अपनी सदा की विश्वासघाती कूटनीति को व्यवहार में लाने का निश्चय कर लिया।

बादशाह की सहमति से यह प्रबन्ध किया गया कि जावेद खान और सफ़दरजंग, दोनों ही दिल्ली-स्थित सफ़दरजंग के निवास-स्थान में जाटों के हिन्दू नेता बल्लू और उसके साथियों सहित, परस्पर बातचीत करें। ६ सितम्बर, सन् १७५२ का दिन था। अत्यन्त विनम्रता भरे पत्र के माध्यम से सफ़दरजंग ने जावेद खान को आमन्त्रित किया था। जब वह वहाँ पहुँचा तब सफ़दरजंग ने प्रत्यक्षतः उसकी भारी आव-भगत और (जाटों के हिन्दू नायक) सूरजमल के बारे में निजी तौर पर परामर्श करने के बहाने उसे 'मच्छी भवन'[१५] नाम से पुकारे जाने वाले

---

१४. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव अवध के प्रथम दो नवाब, पृष्ठ १८८।
१५. दिल्ली में ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण करने वाले यात्रियों,दर्शकों को सफ़दरजंग का तथाकथित मकबरा दिखाया जाता है किन्तु उसका निवास-स्थान नहीं। उस मकबरे में प्रविष्ट होने के पूर्व दर्शक के मन में दो प्रश्न अवश्य उठने चाहिए, उसे यह अवश्य विचार करना चाहिए कि यदि एक मृत

भवन के एक निजी, गुप्त कक्ष में ले गया। (वहाँ पर) अली बेग खान जारजी (सफ़दरजंग का सबसे आज्ञाकारी हत्यारा सेवक) अपने कुछ लौह-कवचधारी आदमियों के साथ अचानक पीछे से आ धमका और उसने अपना खंजर जावेद खान के पेट में घुसेड़ दिया तथा उसके अन्य साथियों ने भी अपने खंजरों और तलवारों का उपयोग कर उस हिजड़े को तुरन्त वहीं खत्म कर (नरक का रास्ता दिखा) दिया। एक अन्य मुस्लिम तिथिवृत्त के अनुसार इस बार का हत्यारा 'मुहम्मद अली जारजी' नामक व्यक्ति था। उसका सिर काटकर उन्होंने इसे घर के

सफ़दरजंग के लिए मकबरे के लिए एक विशाल राजप्रासादीय भवन है तो जीवित सफ़दरजंग के लिए तो पचास ऐसे भवन विद्यमान होने चाहिए थे। फिर भी, ऐसा एक भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि सफ़दरजंग का बेटा जब अपने पिता की लाश के ऊपर दिल्ली में, विशाल, राजप्रासादीय भवन रूपी मकबरा बनवाने के लिए लाखों रुपये व्यय करने का अविवेक करता तो स्वयं अपने लिए दिल्ली में उसके अनेक भवन होते। लेकिन उनका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। तब क्या यह विश्वास करना बेहूदगी नहीं है कि उसकी लाश पर बने भवन को सफ़दरजंग का मकबरा कहा जाए? इस समस्या का सत्य निदान, समाधान यह है कि सफ़दरजंग यदि दिल्ली में दफनाया ही हुआ है तो, (चूँकि वह सैकड़ों मील दूर पपरघाट में मरा और वहीं दफनाया गया था) वह उसके निवास-स्थान में ही दफनाया हुआ है जिसे 'मच्छी-भवन' कहते थे। चूँकि 'मच्छी-भवन' संस्कृत शब्दावली है और यह कभी नहीं कहा जाता है कि सफ़दरजंग ने दिल्ली में कोई भवन-निर्माण करवाया था, इसलिए स्पष्ट है कि दिल्ली में सदर वज़ीर के रूप में सत्ता-सम्पन्न होने के समय सफ़दरजंग एक प्राचीन हिन्दू भवन में निवास करता रहा, जिसे 'मच्छी-भवन' कहते थे। प्रसंगवश, यह भी सूचित किया जाता है कि दिल्ली, आगरा और अन्य स्थानों के कई ऐतिहासिक भवनों में, यथा दिल्ली स्थित कलाँ-मस्जिद और सफ़दरजंग का मकबरा तथा आगरा स्थित एतमादउद्दौला का मकबरा, जिनको मकबरे और मस्जिद के रूप में मुस्लिम-उपयोग हेतु बलात् छीन लिया गया था, पर लम्बी गर्दन वाली एक विचित्र आकृति खुदी हुई अथवा उभरी हुई मिलती है जिसे घड़ा (जल पात्र) अथवा जल-कुक्कुट (मुर्गाबी) या सारस—कुछ भी कहा जा सकता है। प्राचीन हिन्दू लोग अपने भवनों को जिन पशुओं और पक्षियों की आकृतियों से सुशोभित करते थे—इस तथ्य का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति ही उसका स्पष्टीकरण दे सकते हैं कि वह आकृति वास्तव में क्या है, किस बात की प्रतीक है। किन्तु हमारे मन में इस सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है कि दिल्ली में सफ़दरजंग का तथाकथित मकबरा उस 'मच्छी-भवन' से भिन्न कुछ नहीं है, जिसमें अबुल मंसूर खान उपनाम सफ़दरजंग निवास करता रहा, और कि वह भवन एक अति प्राचीन राजभवन था जिसे पर्याप्त पहले अपहृत कर मुस्लिम शासक वर्ग पीढ़ियों से अपने कब्जे में रखता चला आया था। अतः सफ़दरजंग की मृत्यु के अनिश्चित वर्ष पर निर्भर होते हुए सन् १७५३ या १७५४ ई० में उस तथाकथित मकबरे के बनने के बारे में उस अनर्गल प्रलाप पर किसी को भी विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्ष रूप में तो यह अनुमान भी बेहूदगी है क्योंकि कहा जाता है है कि सफ़दरजंग की मृत्यु हो जाने के तुरन्त बाद ही उसे, कम-से-कम कुछ महीनों के लिए तो पपरघाट में ही दफना कर रखा गया था। समग्र भारतीय इतिहास के नाम पर लोगों से कितना बड़ा फरेब किया जा रहा है यह इस बात का स्पष्ट उदाहरण है। दिल्ली में हिन्दू 'मच्छी-भवन' सिद्ध करता है कि लखनऊ में मच्छी भवन उपनाम इमामबाड़ा भी एक हिन्दू भवन ही है।

फाटक के नीचे फेंक दिया और उसके धड़ को यमुना नदी के तट पर लाकर डाल दिया।'[१६]

अपनी क्रूर हत्यारी जटिलताओं में ही अशान्त जीवन व्यतीत करने वाला सफ़दरजंग जैसा विश्वासघाती व्यक्ति तो किसी भी प्रकार का निर्माण करने का विचार नहीं कर सकता था। उसी से उसकी भावी सन्तान, वंश-परम्परा की प्रकृति और प्रतिभा का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। जब तक उनमें कार्यकारी शक्ति रही, वे अन्य लोगों की सम्पत्ति हड़प करते रहे, जैसा हम सआदतअली खान और सफ़दरजंग, दोनों के मामलों में पहले ही बता चुके हैं। परवर्ती नवाब, जिनकी किस्मत के साथ-साथ शक्ति भी आहिस्ता-आहिस्ता कम होती गई, अपने समय और धन-वैभव को कामुकता और विषय-भोग के प्रति अनुरक्ति तथा स्त्री-परता में ही खर्च करने पर गंवाने लगे। किन्हीं सार्वजनिक भवनों और उद्यानों के निर्माण का श्रेय उनको देना घोर शैक्षिक अविवेक है।

दरबार के अन्य व्यक्तियों को सफ़दरजंग का अत्याचार और दुर्व्यवहार इतना अखरने लगा कि अन्त में उसको दिल्ली से बाहर जाने के लिए अपना बोरिया-बिस्तर ले जाना पड़ा। उसने लड़ाई करनी चाही, किन्तु उसे विवश कर दिया गया कि अवध प्रान्त में जाकर शेष जीवन व्यतीत करे। यह घटना ७ नवम्बर, सन् १७५३ ई० की है। पराजित, अभिमान-च्युत सफ़दरजंग ने अपना अपमानित, घृणित जीवन पपरघाट में समाप्त कर दिया। एक ग्रन्थ के अनुसार यह घटना ५ अक्तूबर, सन् १७५४ ई० की है।[१७]

सफ़दरजंग से सदर वजारत का पद छीन लेने के बाद, ये लोग मुगल बादशाहों के वजीर नहीं रहे। इसके बाद, वे अवध के नवाब मात्र ही बने रहे।

कीन का निहित भाव है कि सफ़दरजंग सन् १७५३ ई० में (न कि सन् १७५४ ई० में जैसा पहले लिखा है) मरा था जब वह यह कहता है कि सफ़दरजंग की मृत्यु के बाद उसका बेटा शुजाउद्दौला उत्तराधिकारी हुआ था।[१८]

---

१६. इस अवतरण को डॉ०आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव की पुस्तक 'अवध के प्रथम दो नवाब' पृष्ठ १९९ से उद्धृत किया गया है।

१७. जी०डब्ल्यू० फोरेस्ट द्वारा लिखित 'भारत के नगर' शीर्षक पुस्तक के पृष्ठ २११ पर सन् १७५४ ई० को ही सफ़दरजंग की मृत्यु का वर्ष अंकित किया गया है।

१८. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ४४।

सफ़दरजंग की मृत्यु के बारे में इस अनिश्चितता के कारण ही उस वर्ष के बारे में भी अनिश्चितता उत्पन्न हो गई है जब दिल्ली स्थित सफ़दरजंग का यह तथाकथित मकबरा बना कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उस कल्पित मकबरे के निर्माण से सम्बन्धित कोई स्वतंत्र साक्ष्य इतिहासकारों के पास उपलब्ध नहीं है। यदि सफ़दरजंग की मृत्यु की तारीख के बारे में कोई निश्चितता भी होती, तो भी हमें उससे कोई सहायता दिल्ली-स्थित उनके तथाकथित मकबरे के निर्माण काल का निश्चय करने में नहीं मिलती क्योंकि सफ़दरजंग पपरघाट में मरा और वहीं दफ़ना दिया गया था। यह भी अत्यन्त संदिग्ध है कि उसकी लाश अभी वहीं है अथवा वहाँ से निकालकर उस भवन में पुनः प्रविष्ट की गई है जिसे दिल्ली में उसका मकबरा होने की कल्पना की जाती है। पूरी-पूरी सम्भावना यह है कि दिल्ली के उस भवन में मात्र एक झूठी कब्र ही थोप दी गई थी जिसके कारण भारत में ब्रिटिश प्रशासन द्वारा उस भवन को अपने अधिकार में लिये जाने से रोका जा सके। उस जाली कब्र के निर्माण का औचित्य सिद्ध करने के लिए अफ़वाह जारी कर दी गई कि सफ़दरजंग के शव को पपरघाट से निकालकर दिल्ली लाया गया है। जहाँ उसे पुनः दफ़नाया जाएगा। लोग तो मृतक व्यक्ति को शीघ्र ही भूल जाते हैं। उसके शव को पपरघाट की कब्र में से निकालने और उसी लाश को अत्यन्त सड़ी-गली अवस्था में दिल्ली लाने में किसकी रुचि रही होगी? किसी की भी नहीं। सफ़दरजंग के मामले में तो यह बात और भी अधिक सत्य थी क्योंकि उसमें प्रियजन बनाने के गुण थे ही नहीं। वह हत्या करने वाला, विश्वासघाती व्यक्ति था। जब वह मरा, तब उससे सम्बन्धित अथवा उसके आसपास वाले सभी व्यक्तियों ने शान्ति की बड़ी भारी साँस ली होगी और एक बार उसकी लाश दफ़ना दिये जाने के बाद उसकी लाश से सम्बन्धित प्रत्येक बात से घृणा की होगी। उसकी कब्र उखाड़ कर दिल्ली लाने की तो बात ही क्या, उन्होंने तो यह याद करना भी हितकर नहीं समझा होगा। यह भी असम्भव था कि उसका उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला स्वयं फ़ैज़ाबाद और लखनऊ में निवास करते हुए दिल्ली में दुबारा दफ़नाने के लिए उस शव पर लाखों रुपये खर्च करे। स्वयं मुगल बादशाह और उसका सदर-वज़ीर भी सफ़दरजंग के शव को दिल्ली लाने की अनुमति नहीं देते। सीधा-सादा कारण यह है कि सफ़दरजंग की मृत्यु दिल्ली से निष्कासित होने के शीघ्र बाद ही हो गयी थी। मृतक सफ़दरजंग की बदबूदार

लाश को दिल्ली लाना कौन सहन कर सकता था जबकि जीवित सफ़दरजंग को शस्त्रास्त्र के बल पर राजधानी दिल्ली से बाहर खदेड़ा गया था।

शुजाउद्दौला के बाद उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा आसफ़उद्दौला हुआ था। लखनऊ में कई भवनों, उद्यान और पुल के निर्माण का श्रेय आसफ़ उद्दौला को देने वाले दरबारी कठपुतलियों और चापलूसों के काल्पनिक वर्णन में इतिहासकारों ने अन्धविश्वास कर लिया है। उन दावों के सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वे सब आधारहीन झूठे हैं। एकमात्र उल्लेखयोग्य सफलता जो आसफ़उद्दौला ने 'संरचना' में प्राप्त की प्रतीत होती है वह उन भाड़े के टट्टुओं की उपस्थिति थी, जो मुस्लिम दरबारों की सामान्य विशिष्टता के अनुरूप, न केवल अपने लघुअस्तित्व के लिए अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के परिपूर्ण कार्य-कलापों के लिए भी आसफ़उद्दौला को ही समस्त श्रेय देते रहे। अतः इतिहास के विद्यार्थियों को ऐसे दावे तब तक मान्य, स्वीकार्य नहीं करने चाहिएँ जब तक उन्हें इनके समर्थन में अन्य प्रकार से साक्ष्य उपलब्ध न हो जाएँ।

सन् १७९८ में आसफ़उद्दौला की मृत्यु के बाद, उसके एक कल्पित पुत्र वजीर अली और एक सौतेले भाई के मध्य उत्तराधिकार के लिए घोर संघर्ष जारी रहा। वजीर अली को मात्र कुछ सप्ताहों के लिए सत्ता प्राप्त हो गई लेकिन उसके बाद, उसे ब्रिटिश गवर्नर जनरल सर जान शोर ने सत्ता से अपदस्थ कर दिया। वजीर अली को बनारस उपनाम वाराणसी देशान्तरित कर दिया गया जहाँ उसने मुख्य सिविल अधिकारी को मारकर अपना बदला चुका लिया। यह अधिकारी श्री चेरी था। इस पर वजीर अली को मृत्युदण्ड दिया गया। बाद में मृतक नवाब के सौतले भाई ने, जिसे ब्रिटिश संरक्षण में सत्ता प्राप्त हुई थी, सआदत अली-द्वितीय की उपाधि धारण कर ली। इस सआदत अली को भी अनेक संरचनाओं के निर्माण का श्रेय दिया जाता है। क्या वे दावे सही, सत्य है, इस तथ्य को परखा जाना चाहिए।

सआदत अली-द्वितीय जुलाई सन् १८१६ में मर गया। उसका सबसे बड़ा पुत्र गाजीउद्दीन की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा नासिरुद्दीन हैदर सन् १८२७ ई० में गद्दी पर आया। इस नासिरुद्दीन ने अपने को सबसे निचले स्तर के समाज—अंग्रेज, यूरेशियन और एशिया वासी—में प्रविष्ट कर दिया। यह भोगासक्त शासक सन् १८३७ के

जुलाई मास में अपने घरेलू विश्वासघात से मारा गया।

इसके बाद गद्दी पर इसका चाचा मुहम्मद अली आया। इसी मुहम्मद अली को 'हुसैनाबादी' इमामबाड़े के पास वाली बड़ी मस्जिद बनवाने का श्रेय दिया जाता है। अब ऐसे दावों को बिना सत्यापित किए स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि मुस्लिम तिथिवृत्तों में ''बनाया''—''बनवाया'' शब्द का सामान्य रूप में अर्थ मात्र इतना ही है कि (किसी मस्जिद आदि को) उपयोग के हेतु अधिग्रहीत अथवा अपहृत किया, मरम्मत अथवा नवीनीकरण किया अथवा सीधे-सादे उपयोग में ले लिया।

उसके बाद सन् १८४२ में अमजद अली गद्दी पर बैठा। इस वंश का अन्तिम व्यक्ति वाजिद अली था जो सन् १८४७ में यह पदवी प्राप्त कर सका था। उसका भी एक भवन-निर्माता के रूप में उल्लेख किया गया है। इसका औचित्य क्या है, हमें पता नहीं। कैसरबाग का विशाल निर्माण-यश उसी की सम्पत्ति कही जाती है।

कीन लिखता है—''कहा जाता है कि वाजिद अली ने कैसरबाग पुंज के लिए १० लाख स्टर्लिंग की विशाल धन-राशि निर्धारित की थी। यह दुर्बल इन्द्रिय-परायण व्यक्ति सन् १८५६ ई० में कलकत्ता भेज दिया गया था।''[१९]

इस प्रकार विषयासक्ति, लम्पटता और विश्वासघात के लिए कुख्यात लखनऊ के नवाबों का बदनाम घराना समाप्त हो गया।

हम लखनऊ-दरबार को परिव्याप्त करने वाली घोर कामुकता और विश्वासघाती वृत्ति का पूर्ण दिग्दर्शन कराने के लिए अगले अध्याय में कुछ विस्तारपूर्वक आसफ़उद्दौला का जीवन-क्रम प्रस्तुत करेंगे। यही वह व्यक्ति है जिसे किसी प्रमाण के अभाव में भी, बड़े इमामबाड़े का महान् निर्माता कहकर उच्चाकाश में चढ़ा दिया गया है।

---

१९. कीन की सिटीशिका, पृष्ठ ४६।

५

आसफ़उद्दौला

चूँकि लखनऊ का चौथा नवाब आसफ़उद्दौला ही तथाकथित बड़े इमामबाड़े का रचनाकार—सामान्यतः विश्वास किया जाता है, इसलिए आइए, हम उसके जीवन और शासनकाल को तनिक विस्तार से परख लें ताकि सत्य बात जान सकें कि इमामबाड़ा बनवाने का कोई वास्तविक कारण था भी, अथवा कोई ऐसा लेखा विद्यमान है जो आधिकारिक रूप में सिद्ध करता हो कि उस भव्य भवन का निर्माण इसी व्यक्ति ने करवाया था।

हमें आसफ़उद्दौला के समय के कम-से-कम दो समकालीन वर्णन उपलब्ध हैं। इनके रचनाकार दो मुस्लिम व्यक्ति हैं जो लेखनी से ही अपनी नित्य-जीविका चलाते थे। एक वर्णन है मुहम्मद फ़ैजबख्श की 'तारीख फराहबख्श' और दूसरा है अबू तालिब का 'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन'। चूँकि ये दोनों ग्रन्थ कई वर्ष बाद लिखे गए थे, अतः उनमें कल्पना का पर्याप्त पुट है। लेखकों के परिश्रम को अनेक अभिप्रेरणाओं ने प्रभावित किया प्रतीत होता है। इनमें उनकी परस्पर दुश्मनी और दरबार स्थित अन्य सह-सेवकों के साथ उतार-चढ़ाव तथा इस्लामी उग्रवाद सम्मिलित हैं।

तफजी हुल गाफिलीन

इसके (अंग्रेजी) अनुवादक विलियम होय ने आमुख में लिखा है—''इस अभिलेख का सर्वाधिक मूल्य यह है कि यह समकालीन इतिहास है। इसके लेखक ने जिन बातों के बारे में इसमें लिखा है, उनसे इसका सीधा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और वास्तविकता तो यह है कि इन घटनाओं में से अधिकांश का तो वह स्वयं मुख्य पात्र रहा है। वह रहस्य-उद्घाटन में निडर, निश्शंक है, और यदि नवाब, वज़ीर व उसके अन्य वज़ीर-साथियों की निन्दा करने में वह अत्यन्त कठोर है, तो वह उस समय अपने संरक्षकों का बचाव भी अत्यन्त दृढ़तापूर्वक करता है जब

उसे अनुभव होता है कि उनकी अनुचित आलोचना की गई है।''[१]

'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन' के रचनाकार अबू तालिब ने लखनऊ की नवाबी पर आहिस्ता-आहिस्ता अपना राजनीतिक पंजा सख्ती से गड़ाते जाने वाले ब्रिटिश शासन और लखनऊ के मुस्लिम दरबार, दोनों के ही अधीन काम किया था। अनुवादक होय ने आमुख में लिखा है—''अबू तालिब ने हैदरबेग खान के अधीन राजस्व कर्मचारी के रूप में निजी सेवाओं और साहसिक कार्यों, कर्नल हन्ने के अधीनस्थ के रूप में अपने अनुभवों, और अवध की बेगमों की जब्त जागीरों के प्रबन्धक के रूप में श्री जान्सन और अन्य लोगों के साथ अपने सम्बन्धों का सविस्तार इतिहास प्रस्तुत किया है।''

रचनाकार अबू तालिब ने स्वयं अपने आमुख में लिखा है—''मैं, मुहम्मद इस्फ़हानी का बेटा अबू तालिब, अत्यन्त विनम्रतापूर्वक सूचित करना चाहता हूँ कि कप्तान रिचर्डसन ने मुझे कहा कि नवाब आसफ़उद्दौला के समय की सभी बीती हुई बातों, घटनाओं को लिपि-बद्ध करूँ''। उसी अनुरोध के अनुपालन हेतु, ये छोटी-छोटी टिप्पणियाँ संग्रहीत की गई थीं यदि मेरे पाठक कोई त्रुटि खोज लें, तो मुझे क्षमा कर दिया जाए, क्योंकि मैं अपनी दैनन्दिनियाँ खो चुका हूँ, और अपनी स्मृति से ही लिखने पर विवश हो गया हूँ।''

अबू तालिब ने लिखा है कि—''फ़ैज़ाबाद के निवासियों ने मृतक नवाब शुजाउद्दौला की शव-यात्रा व अंत्येष्टि-कर्म कठिनाई से समाप्त ही किए थे कि प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी (अर्थात् आसफ़उद्दौला) ने राजगद्दी सँभालने का विचार शुरू कर दिया सभी लोगों ने उससे नाखुशी जाहिर की। अच्छा यह होता यदि वह बेचैनी प्रदर्शित नहीं करता । फिर भी उसने उनकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया और पहले से भी अधिक आतुरता दिखाई जिससे सब लोगों को उसकी इच्छाओं के सम्मुख झुकना पड़ा। उसने बहुत सारे साधारण सैनिकों को, जो उसके अर्दली रह चुके थे, 'राजा' की पदवी से सम्मानित किया और दस्तों की कमान उनके हाथ में दे दी।''[२]

मुस्लिम तिथिवृत्तलेखन से अनभिज्ञ लोगों से हम अनुरोध करते हैं कि वे

१. 'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन' के अनुवाद में विलियम होय का आमुख।
२. वही, पृष्ठ १५०।

ऊपर दिये गये उद्धरण पर सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करें।

ऊपर अबू तालिब ने जो कुछ इंगित किया है वह यह है कि किसी भी काम के अयोग्य हिन्दुओं को 'राजा' की पदवी से सम्मानित किया गया था। स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि समकालीन इस्लामी खटमलों ने 'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन' के रचनाकार अबू तालिब को इतना काटा था कि वह हिन्दू द्वेषी हो जाए। यह भी मान लिया जाए कि नया नवाब आसफ़उद्दौला बड़ा मनमौजी, सनकी था, तब वह अधिक-से-अधिक एक हिन्दू अर्दली को ही 'राजा' का उच्चपद प्रदान करता। वह इतना अविवेकी कैसे हो सकता है कि अपने अधिकांश और/अथवा सभी हिन्दू पद अर्दलियों को राजा का पद प्रदान कर देता, विशेष रूप में तब जबकि एक विनीत अर्दली और नाममात्र के 'राजा' के पद के बीच भी अनेक व्यवधान होते हैं। वैसे, स्वयं आसफ़उद्दौला एक धर्मान्ध मुस्लिम था। फिर वह यह कैसे पसन्द करता कि मात्र हिन्दुओं को ही 'राजा' का पद दे दिया जाए। इसका अर्थ यह है कि उसने अपने मुस्लिम सेवकों की भारी संख्या पर तो और भी अधिक सम्मानों की वर्षा की होगी। किन्तु अबू तालिब उनका उल्लेख नहीं करता है क्योंकि उसकी उग्रवादी मुस्लिम दृष्टि से किसी एक 'काफ़िर' हिन्दू को भी 'राजा' का सम्मानित पद देना अत्यन्त मर्मभेदी-पीड़ाकारक था जबकि किसी मुस्लिम को उच्च पदासीन करना स्वाभाविक और नेमी कार्य था। ('राजा' पदवी दिया जाना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उन्हें प्राप्त करने वाले अवश्य ही हिन्दू लोग रहे होंगे)। हमने यहाँ इस विषय पर जरा विस्तार से प्रकाश इस आशय से डाला है कि हमारे पाठक उस महान् शैक्षिक सतर्कता के प्रति प्रारम्भ में ही जागरूक हो जाएँ जो मुस्लिम तिथिवृत्तों के अध्ययन के लिए आवश्यक है।

आसफ़उद्दौला की माँ 'बहू बेगम' और आसफउद्दौला की दादी अर्थात् उसके पिता की माँ 'नवाब बेगम', दोनों ही उस समय जीवित थीं जब आसफ़उद्दौला नवाब बना। आसफ़उद्दौला का पिता शुजाउद्दौला लखनऊ की अपेक्षा फ़ैज़ाबाद में अधिक लम्बे समय तक रहा करता था। किन्तु माँ और दादी, दोनों की भयकारी और योजना को व्यर्थ कर देने वाली उपस्थिति के कारण उद्दण्ड आसफ़उद्दौला को फैज़ाबाद में बने रहने का विचार पसन्द नहीं आया। अबू तालिब ने लिखा है—''चूँकि फैज़ाबाद में वह अपनी दादी के पास था जो उसकी अधिकांश कारगुज़ारियों को नापसन्द करती थी, इसलिए उसे उस नगर के प्रति

ना-पसन्दगी हो गई और वह लखनऊ चला गया।''[3]

प्रत्यक्षतः आसफ़उद्दौला ने अपना निवास-स्थान मत्स्य भवन उपनाम बड़े इमामबाड़े में बनाया किन्तु अबूतालिब रहस्यमय ढंग से इसका उल्लेख करना छोड़ जाता है कि फ़ैज़ाबाद से अचानक रातों-रात अपना बोरिया-बिस्तर लखनऊ ले आने पर आसफ़उद्दौला ने अपना ठिकाना कहाँ जमाया था।

शुजाउद्दौला की माँ अर्थात् आसफ़उद्दौला की दादी के बारे में, जिसे नवाब बेगम कहते थे, अबू तालिब ने लिखा है—''उसकी बहुत बड़ी जागीर है, और आय भी बहुत अधिक है। उसकी पाषाण-हृदयता और शर्म के प्रति असंवेदनशीलता के कारण तथा उसके अपने प्रयत्नों से अपने ऐश्वर्य की इच्छापभोग करने की वृत्ति-वश, जिसका उल्लेख करना उचित नहीं है, वह अपने आश्रित व्यक्तियों के कल्याण-लाभ की ओर ध्यान नहीं देती है। उनका विचार नहीं करती है।''[4]

अबू तालिब ने अपने तिथिवृत्त में उल्लेख किया है कि उसका अपना पिता मुहम्मद बेग दूसरे नवाब वज़ीर सफ़दरजंग की सैनिक सेवा में काम करता था।

नवाब के दरबार और घर की भयावह अवस्थाओं का वर्णन करते हुए अबू तालिब ने लिखा है—''सभी नौकरों में से हैदरबैग खान ने मृतक नवाब (अर्थात् शुजाउद्दौला) के वंशजों पर सबसे अधिक नाराज़गी का व्यवहार किया। उदाहरण के लिए, मृतक नवाब के बेटे, जो लखनऊ में है और यद्यपि जिन्हें एक हज़ार रुपये प्रतिमास आबंटित होता है, उसके वचन-विश्वासभंग, उसके तिरस्कार और उसकी झाँसा-पट्टी के कारण भूखों मर रहे हैं। उसके (शुजाउद्दौला) महलों की महिलाएँ जो फ़ैज़ाबाद में है अपना भत्ता मिलने पर कई बार अत्यन्त विलम्ब हो जाने के कारण भूख से इतनी बेहाल हो जाती है कि उनमें सौ-दो-सौ महिलाएँ अपने हरमों से निकलकर बाज़ार में लूट-पाट करती हैं और अनाज व अन्य आवश्यक वस्तुएँ लूटकर वापस हरम में लौट आती हैं। अभी तक, उसकी एक भी पुत्री की शादी की व्यवस्था किसी ने नहीं की है, क्योंकि धन मिलता नहीं है और नवाबे-आलिया (अर्थात् बड़ी बेगम, शुजाउद्दौला की माँ) इतनी सारी

३. 'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन', पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ ३७।

लड़कियों के लिए धन का इन्तज़ाम नहीं कर सकती थीं।''[5]

अवध के नवाब सहित भारत के प्रत्येक मुस्लिम शासक के हरम में हज़ारों महिलाएँ हुआ करती थीं। स्वयं उसके अपने जीवन-काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद तो उसकी रखैलों और उनकी सन्तानों को भयावह जीवना बिताना पड़ता था—उनका अस्तित्व दयनीय था। उनको यह भी विश्वास नहीं था कि उनको दिन में दोनों जून का खाना अथवा बालों में डालने के लिए तेल भी मिल जाएगा क्योंकि नये नवाब की भी हज़ारों महिलाओं का अपना हरम था तथा उनके आश्रितों का प्रबन्ध भी उसे ही करना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में क्या कोई नवाब अपनी दुर्भिक्ष-पीड़ित, गूँगी, पद-दलित, दुखित, पीड़ित प्रजा को विपत्तियों से छुटकारा देने के लिए अथवा ताज़ियों के निर्माण के लिए कारखानों के रूप में इमामबाड़े का निर्माण करेगा?

उपर्युक्त अवतरण में ध्यान देने की अन्य बात यह है कि शहज़ादों की एक बड़ी संख्या लखनऊ में रह रही थी। इससे स्पष्ट है कि लखनऊ पूर्वकालिक राजकीय हिन्दू भवनों से सम्पन्न था। हम पहले भी पर्यवेक्षण कर चुके हैं कि इस खानदान के पहले नवाब शादअली खान के दिनों से ही नवाब स्वयं भी लखनऊ में निवास किया करते थे। तीसरी बात यह है कि भूखे हरम, नागरिकों के लिए अभिशाप हो गए थे। हरम-रक्षक और अन्य आश्रित व्यक्ति, शाही वेश-भूषा धारण कर, अधिकांशतः हिन्दू घरों, दुकानों को ही लूटा करते थे।

स्वयं आसफ़उद्दौला के बारे में अबू तालिब लिखता है—''वज़ीर के कबूतर-खानों, मुर्गों के लड़ने के अखाड़ों, भेड़ों के बाड़ों, हिरणों के उद्यानों, बन्दर-साँप-बिच्छू-केंकड़ों के घरों पर इतना अधिक खर्च होता है कि यदि व्यवस्था को सावधानीपूर्वक रखा जाता, तो इस पर व्यय किया गया धन मृतक नवाब के सभी बच्चों और उसकी औरतों के अनुरक्षण के लिए पर्याप्त होता क्योंकि ३,००,००० कबूतर और लड़ाकू मुर्गे रखे जाते हैं, साथ ही कुछ साँप भी हैं जिनमें से एक जोड़ा एक मन माँस खा जाता है। मनुष्यों के अतिरिक्त, सभी चीज़ों की रुचि-पूर्वक देखभाल वज़ीर द्वारा की जाती है। एक अन्य खर्चा वज़ीर के घरेलू नौकरों का वेतन है, जिनकी संख्या २,००० फराशों, १०० चोबदारों और

५. तफ़ज़ीहुल गाफिलीन, पृष्ठ ३६।

खिदमतगारों, ४,००० मालियों तथा सैकड़ों रसोइयों सहित हजारों-हजारों में है। उसकी रसोई का प्रतिदिन का खर्चा २,००० से रुपये ३,००० तक का है।''[६]

मुगल-दरबार से इतने सारे निम्न श्रेणी कर्मचारी और बेकार के पिछलग्गू अपनी जीविका समाप्त करना चाहते हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है कि उन्होंने आसफउद्दौला की दानशीलता, उदारता के बारे में कनफूसियों और अफ़वाहों से इतिहास को ठसाठस भर दिया हो और कई अपात्रता योग्य भवनों व उद्यानों का निर्माण-श्रेय उसको दे दिया हो। किन्तु इस सबका खेदजनक पहलू यह है कि इतिहासकार ऐसी मनगढ़न्त बातों में बिना सोचे-समझे ही विश्वास करते जाएँ।

अबू तालिब ने अपने तिथिवृत्त के पृष्ठ ४५ से ४८ पर लिखा है कि नवाब की अल्मोड़ा, बहराइच और अन्य स्थानों की यात्रा के समय किस प्रकार उसके हजारों सह-यात्री नवाब की सुख-सुविधाओं और अन्य बुरी इच्छाओं को पूर्ण करने में अति कंगाली के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाया करते थे।

आसफ़उद्दौला की दैनिक बातों के बारे में अबू तालिब ने इस प्रकार लिखा है—''चूँकि वज़ीर अफ़ीम का सेवन करता था, इसलिए वह सवेरे बहुत देर तक सोता रहता है। खस की बनी हुई पालकी में उसे सब जगह ले जाया जाता है। अपने राज्य में अन्य स्थानों की यात्रा पर उसी पालकी में लगी खस पर जल-छिड़िए चारों ओर से पानी छिड़कते चलते हैं। जब जाड़ों में नवाब खुले प्रदेश में ठहराव करता था, तब उसकी सेवा में नियुक्त लोगों को कपड़ों या मकान की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण ठण्ड लग जाती थी। इससे भी बड़ी परेशानी यह है कि नवाब के शिविर के नजदीक का प्रत्येक वन-कुंज मात्र वजीर के उपयोग और उसके पशुओं के लिए सुरक्षित रखा जाता था। यदि कोई वन-कुंज खाली भी हो, तो भी कोई उसमें खेमा नहीं गाड़ता है क्योंकि यदि वज़ीर किसी तम्बू को देख लेता है, तो उसके मालिक को प्रदेश से बाहर निकाल देता है। यह आदेश दूसरे आदमी को मिलने वाली सुविधा से जलन के कारण व्याप्त है। इसका एक प्रमाण उसके द्वारा अनेक वस्तुओं की मनाही है। जिसमें से एक वस्तु बर्फ़ है। यद्यपि बर्फ़ बनाने वालों ने उसे कई बार कहा है कि यदि उनको अनुमति दी जाए तो वे उसके लिए और भी अधिक बर्फ़ बनाकर दे सकेंगे, तथा

६. तफ़जीहुल गाफ़िलीन, पृष्ठ ३८।

उनकी लागत भी कम होगी, परन्तु उसने इन्कार कर दिया है। यद्यपि लखनऊ और फैज़ाबाद में उसके सैकड़ों बाग है फिर भी फल और फूल सड़ते है, गिर जाते हैं और फेंक दिए जाते है। आम के दिनों में, वह लखनऊ और फैजाबाद के निवासियों के वन-कुंजों को अपने अधिकार में ले लेता है और इस प्रकार, गरीबों का बहुत सारा धन लूट लिया जाता है।''[७]

लोगों को विश्वास दिलाया गया कि सन् १७८४ के दुर्भिक्ष में भूख से पीड़ित लखनऊ के नागरिकों पर दया आने के कारण ही, स्वयं अपने ही खर्चे पर, आसफउद्दौला ने अकाल से राहत-कार्य के रूप में बड़े इमामबाड़े की संरचना का आदेश दिया था। अपने निम्न श्रेणी के आश्रितों को भीषण शीत में ठण्ड से सिकुड़कर मरने और मात्र नवाबी की आत्म-सम्मान की भावना-वश ही प्रबुद्ध नागरिकों को अन्य सुविधाओं से वंचित रखने वाला नवाब क्या दया-भाव से कभी इतना द्रवित हो सकता है कि अकाल से राहत दिलाने हेतु बड़े इमामबाड़े के निर्माण जैसी किसी परियोजना को अपने हाथ में ले?

अबू तालिब यह भी वर्णन करता है कि किस प्रकार सामान्य लोगों के बच्चों तक को स्वयं जंगल तक से फूल तोड़ने और उनसे बनी फूलमालाएँ तक पहनने की मनाही थी। जनता को यह भी आदेश था कि वह किसी भी प्रकार की सुगन्धि का प्रयोग न करे। इसका कठोर निषेध था, और यह कार्य नवाब के हृदय में परस्पर जलन की भावना-मात्र से ही किया गया था।

जब ''लखनऊ में किसी ने छींट के कपड़े की छपाई प्रारम्भ की, तो वजीर ने आदेश दिया कि समस्त उत्पादन वजीर को ही दे दिया जाए। एक दिन वजीर ने किसी आदमी को यही छींट का वस्त्र धारण किए हुए देख लिया। उसने उस छपाईखाने के प्रमुख को गधे पर बैठाकर सारे नगर में घुमाया, यद्यपि वह एक सम्मानित व्यक्ति था और चार या पाँच सौ शिक्षुओं का नियोक्ता था। घोड़े के व्यापारियों को अनुमति नहीं है कि वे किसी को अपने घोड़े बेच सकें—पहले वे घोड़े वजीर को दिखाने पड़ते है।...और उसके वैयक्तिक सेवकों व परिचरों को, जब दौरे पर हों और जब मुख्यालय में हों, किसी भी महिला के पास जाने की—यहाँ तक कि अपनी-अपनी बीवियों-पत्नियों के पास जाने तक की मनाही है।...

७. वही, पृष्ठ ४८-४९।

सतर्कता इतनी अधिक बरती जाती है कि यदि कोई अभागा अर्द्ध-रात्रि को चुपके से कहीं जाता है, तो उसे कैद कर लिया जाता है। मैं वजीर के सारे दोषों, अवगुणों को यहाँ लिखना नहीं चाहता हूँ—इससे मेरा ग्रन्थ बहुत भारी-भरकम हो जाएगा।''[८]

आसफ़उद्दौला की प्रजा की कारुणिक, असहाय, शोचनीय अवस्था और उस पर चलने वाले पाशविक दमन-चक्र का पर्याप्त दिग्दर्शन अबू तालिब ने करा दिया है। हम यहाँ पाठकों की जानकारी हेतु इतना और स्पष्ट कर देते हैं कि मुस्लिम तिथिवृत्त ऐसे दमनात्मक-कुकृत्यों का उल्लेख केवल उसी समय करते थे जब मुस्लिम व्यक्तियों का जीवन असह्य हो जाता था। हिन्दुओं के प्रति बे-इज़्ज़ती, तिरस्कार और घोर दुष्कृत्य प्रायः अ-लिखित ही रह जाते थे क्योंकि ऐसे दमन-कर्म मुस्लिम शासन के अधीन तो रोजाना की ही बातें थीं—कोई विशेष उल्लेख योग्य बात नहीं थी। उदाहरण के लिए, ऊपर प्रयुक्त 'सम्मानित' विशेषण, मुस्लिम तिथिवृत्त लेखन में प्रयुक्त शब्दावली के अनुसार, मुस्लिम छींट-निर्माता के लिए प्रयुक्त हुआ है। हिन्दू-द्योतन के लिए तो वे मुस्लिम तिथिवृत्त लेखक ''गुलाम, कुत्ता, क़ाफ़िर'' जैसे शब्दों का उपयोग करते थे।

नवाब जब अपनी यात्रा के दौरान एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय पड़ाव डालता था, तब वह अपने नागरिकों पर भयंकर अत्याचार किया करता था। अबू तालिब ने उन विकट दुष्कर्मों का एक अन्य दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि, ''नवाब का पड़ाव नज़दीक ही होने के कारण किसान लोग अपने घर खाली कर जाते हैं। वजीर के आदमी, रात्रि के समय प्रकाश के लिए उन्हीं खाली घरों को जला देते हैं, उस पड़ाव में जलाने की लकड़ी और अन्य वस्तुओं की इतनी खपत होती है कि वजीर के वे आदमी जनता के घरों से लकड़ी के खम्भों को बाहर खींच निकालते हैं और उनको फूस के छप्पर के नीचे फेंक देते हैं ताकि आधा सेर आटा पकाने के लिए उनको ईंधन प्राप्त हो जाए।''[९]

नवाब पर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का लाखों रुपये का कर्जा था। कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा लगातार कर्जा चुकाने के लिए तंग किये जाने के

८. 'तफ़्ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन', पृष्ठ ५०।
९. वही, पृष्ठ ७४।

कारण आसफ़उद्दौला अपनी कई हजार सैनिकों की भारी फ़ौज को साथ लेकर फ़ैज़ाबाद गया। वहाँ उसने उन महलों को घेर लिया जहाँ उसकी माँ और दादी रहती थीं। उनके कुछ आश्रितों को बन्दी बना लिया गया और लोहे की जंजीर में बाँधकर भारी क्रोध, अशोभनीय कृत्यों व सभी प्रकार की शारीरिक यातनाएँ देना न भुलाया''। उसने (फिर) अपनी माँ का निवास-स्थान लूट लिया और, यहाँ से पचास लाख रुपया नक़द और पचास लाख रुपये का सोना-चाँदी व कपड़ा हथियाकर लखनऊ लौट गया।''[१०]

क्या आसफ़उद्दौला जैसा दिवालिया नवाब, जिसे अपनी माँ और दादी पर यथार्थतः डकैती ही मारनी पड़ी, अचानक अपनी निर्धन, गूँगी, अज्ञात, अपोषित प्रजा के लिए मानव-दयालुता से इतना अधिक विचलित हो जाएगा कि अकाल से राहत के उद्देश्य से विचक्षण, अपूर्व इमामबाड़े पर लाखों-लाखों रुपये की धन-राशि व्यय करे? भारतीय इतिहास के अध्ययन में ऐसे अति सतर्क प्रति-प्रश्नों का अभाव रहा है जिसके कारण भारतीय इतिहास जन-प्रसिद्ध प्रपंचों, उग्रवादी कल्पित बातों और मनमौजी विचारों से व्युत्पन्न अनुचित निष्कर्षों का गड़बड़-झाला, भानुमती का पिटारा बनकर रह गया है।

आसफ़उद्दौला के तथाकथित भवन-निर्माण सम्बन्धी कार्यकलाप के बारे में अबू तालिब ने लिखा है—''(१० सितम्बर, १७९० ई० से ३० अगस्त, सन् १७९१ ई० तक) इस वर्ष में इमामबाड़ा पूरा हो गया और वहाँ ताजिए (अर्थात् नवाब) का भवन-निर्माण पर ही १० लाख प्रतिवर्ष का खर्चा है और यह खर्चा उसके शासनकाल के प्रारम्भ से ही नियमित रूप से होता जा रहा है। प्रत्येक नये भवन को, जो पूरा बनकर तैयार होता है, मात्र दो या तीन दिन के लिए ही उपयोग में लाया जाता है और फिर हमेशा के लिए खाली छोड़ दिया जाता है। रात्रि के समय इसमें कोई दीया-बत्ती भी नहीं जलायी जाती, और न ही दिन में झाड़ू-बुहारी लगायी जाती है। उसके भवन-निर्माण की सनक से खुदा के बन्दों को जो तकलीफें भोगनी पड़ रही हैं वे अनेक हैं। पहली बात तो यह है कि वह जब कभी किसी भवन का बन्दोबस्त करता है तब वर्षों से उस स्थान पर रहते चले आए निवासियों को भी उसका आदेश—उसी समय स्थान छोड़कर चले जाने

१०. वही, पृष्ठ ६०।

का—मिल जाता है—कोई धन या प्रतिपूर्ति या अन्य कोई मकान बदले में नहीं
मिलता है। ऐसा प्राय: हुआ है कि लोगों को अपनी वस्तुएँ ले जाने का भी समय
नहीं मिला। खाली किए जाने से पूर्व ही मकान मजदूरों द्वारा तोड़ दिया गया है।
मकान का रहने वालों को मजबूर कर दिया गया है कि वे अपनी पत्नियों और
बच्चों के हाथ पकड़कर, मकान छोड़कर चले जाएँ। दूसरी बात यह है कि वजीर
के कारीगर, हर सम्भव बहाना बनाकर, ईंट-लकड़ी और भवन-निर्माण की अन्य
सामग्री प्राप्त करने के लिए लोगों के घरों का उपयोग कर लेते हैं। इस प्रकार,
उनका अत्याचार इतना विकट है कि जहाँ कहीं द्वार-मार्ग अथवा ईंटों के स्तम्भों
वाला और शेष भवन कच्ची मिट्टी का हो तथा उसमें कोई परिवार निवास कर रहा
हो, वहाँ वे उस सम्पूर्ण परिवार का विनाश कर देते है। मात्र पन्द्रह अथवा बीस
हजार ईंटों के लिए, उस मकान को नीचे गिरा देते है। यह भवन-निर्माण की
सामग्री तक ही सीमित नहीं है, अपितु चीनी, ईंधन, चावल जैसी अधिकांश
वस्तुओं की भी यही स्थिति है जिसके कारण वर्ष में अनेक बार, अचानक दामों में
बढ़ोतरी हो जाती है। वजीर के नौकर भी 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्त पर
ही, वजीर के उदाहरण का अनुसरण करते हैं। वजीर द्वारा अपने प्रारम्भिक वर्षों में
बनाए गए अधिकांश भवन अब ध्वस्त, जीर्ण-शीर्ण होते जा रहे हैं। गोमती नदी
के ऊपर वाला पुल, जो दो या तीन लाख रुपये की लागत पर बना था, हर बार
वर्षा ऋतु में टूट जाता है और ४० या ५० यात्री मर जाते है, तथा वर्षा के बाद
इसकी मरम्मत में वही आतुरता, शीघ्रता दिखाई जाती है'''। एक शब्द में, उसके
सभी भवनों में इमामबाड़ा सर्वोत्तम और सबसे सुदृढ़ बना हुआ है। इसमें दो बड़े
कमरे, एक छज्जा और तोरणावृत्त पथ है। विशाल कमरे की लम्बाई ६० गज
चौड़ाई ३० गज़ है। इसके सामने एक छत है, और इसके बीच में एक जल
कुण्ड है। इमामबाड़े के सामने 'त्रिपोलिया' के समान एक ऊँचा द्वार है, और
इसके पास ही दो या तीन सुविस्तृत जिलोखाने हैं। एक बड़ा लम्बा प्रांगण है,
और इसके पहलुओं में एक ऊँची मस्जिद व इसी के अनुरूप नौकर-चाकरों के
रहने के मकान है जिनमें से प्रत्येक में उसी शैली के तीन-तीन दरवाजे है। इसके
पास ही नौकरों-चाकरों के मकान, एक अस्पताल और यात्रियों की
विश्रान्ति-शालाएँ है। सबसे बाहरी जिलोखाने के दरवाजे पर, जो रूमी दरवाजा
पुकारा जाता है, उन्होंने एक गोलाकार कक्ष बना लिया है जिसकी दीवारें चित्रित

हैं। इस दरवाजे की चौड़ाई उतनी ही होगी जितनी सभी दरवाजों की—३० गज़,
और इसकी ऊँचाई लगभग ४० गज़। यह उन लोगों की आँखें चकाचौंध कर देता
है जो ऊपर देखते हैं। इस दरवाजे और विशाल कमरों की छतें, जो ३० गज़
चौड़ी है और इस खण्ड के सभी भवन ईंटों और चूने के बने हुए है, और सारी
जगह किसी भी प्रकार की लकड़ी तनिक भी नहीं लगी है।''[११]

इन सभी शताब्दियों तक जिस सरल परम्परा में भारतीय इतिहास का
पठन-पाठन, अध्ययन और अनुसन्धान किया गया है, परम्परावादी इतिहासकार
उपर्युक्त अवतरण को सुदृढ़ रीति से पकड़ लेते है, और इसी में मूलतः विश्वास
करते हुए इसी को प्रबल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते है कि आसफ़उद्दौला ने
बड़ा इमामबाड़ा बनवाया था । इस सम्बन्ध में, हम पाठकों को सूचित करना
चाहते हैं कि ऐतिहासिक शोध की विधि-प्रक्रिया का तक़ाजा है कि कथनों को
उनके शब्दानुसार कभी भी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। कानूनी अदालत में
किसी साक्षी की सूक्ष्म परीक्षा हेतु जिस प्रकार उससे प्रश्न, प्रतिप्रश्न किए जाते है,
उसी प्रकार यहाँ भी प्रत्येक शब्द की अतिसूक्ष्म जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए।
इतिहास के लेखकों और रचनाकारों द्वारा विधि-प्रक्रिया के सिद्धान्त के प्रति कभी
ऐसी जागरूकता उपयोग में न लाने का घोर दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय
इतिहास नितान्त असत्य, गलत, सदोष, भ्रामक और निराधार संकल्पनाओं व
निष्कर्षों से बोझिल हो गया है।

सभी ऐतिहासिक साक्ष्यों की सूक्ष्म, वकील-समान जाँच पड़ताल का महत्त्व
दर्शाने के लिए हम अबू तालिब के ऊपर दिए हुए कथन का विश्लेषण करेंगे
और सिद्ध करेंगे कि उसका कथन किस प्रकार इस्लामी उग्रवाद से प्रेरित होकर
भरपूर झूठी बातों से ठसाठस भरा पड़ा है। अपने विश्लेषण से हम दिखाएँगे कि
सभी अन्य मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्ति लेखकों के समान ही अबू तालिब भी
एक अविस्मरणीय 'साक्षी' है। इसीलिए उसकी लिखी टिप्पणियों पर विश्वास
करना अत्यधिक खतरनाक है। उसकी लिखी बातों से तत्कालीन घटनाओं का सही
ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके कथनों का अत्यन्त सावधानीपूर्वक तत्त्व-निरूपण
करना अत्यन्त आवश्यक है।

---

११. वही, पृष्ठ ९१-९६।

आइए, हम उसका सर्वप्रथम कथन रखें। वह कहता है कि इमामबाड़ा सन् १७९०-९१ में पूरी तरह तैयार हो गया था। यदि यह बात सत्य है तो क्या कारण है कि अन्य हर एक लेखक ने यह पूर्वकल्पना व्यक्त की है कि इमामबाड़ा सन् १७८४ में बन गया था? अतः क्या यह प्रत्यक्ष नहीं है कि अबू तालिब और शेष अन्य-वर्ग, दोनों ही झूठ बोल रहे हैं, धोखा दे रहे हैं? इस पर पूर्ण चर्चा तो हम अगले अध्याय में करेंगे जब मात्र इमामबाड़े के साक्ष्य का विवेचन करेंगे। उनमें से एक भी, अपने मत के समर्थन में, कोई प्रलेख उपस्थित नहीं करता और न ही किसी प्राधिकारी का उल्लेख करता है। साथ ही, जबकि अन्य लोगों का आग्रह-पूर्वक कथन है कि इमामबाड़े का निर्माण दुर्भिक्ष से छुटकारा हेतु कार्य के रूप में हुआ था, अबू तालिब ऐसा कोई दावा नहीं करता। अबू तालिब यह भी उल्लेख नहीं करता कि वास्तुकलाकार कौन था। साथ ही उसने यह तो सूचित कर दिया है कि इमामबाड़ा सन् १७९० -९१ में पूरा हो गया था किन्तु यह उल्लेख नहीं किया कि यह कब बनवाना शुरू किया गया था, अथवा इसके निर्माण में कितने वर्ष लगे थे? आसफ़उद्दौला के तथाकथित भवनों के लिए स्थान उपलब्ध कराने के प्रयोजन से गरीबों को उनके घरों से निकाल बाहर करने की शिकायत तो अबू तालिब ने की है, किन्तु उसने हमें यह सूचना नहीं दी है कि इमामबाड़ा बनाने के लिए, इस प्रकार, कितने परिवारों को बे-घर किया गया था। वह भूमि किसकी थी? जबकि अबू तालिब हमेशा आशा रखता है कि हम यह विश्वास करें कि आसफ़उद्दौला अन्य लोगों की सम्पत्ति हड़पकर अपने लिए भवन तैयार करने में, सभी समय, अत्यन्त स्वार्थी रहा है। वह स्वयं अपना प्रतिवाद खण्डन यह कहकर कर लेता है कि आसफ़ उद्दौला द्वारा निर्मित सर्वोत्तम भवन ताजिये रखने के लिए बनवाया गया था। उस भवन-संकुल में आनन्द-निकेतन (बिलोखाना), लखनऊ के सबसे ऊँचे दरवाजे, अत्युत्तम भृत्य-निवास-गृह और सार्वजनिक लाभार्थ एक मस्जिद है। यदि ताजियों के भण्डार के लिए निर्मित इमामबाड़ा सर्वोत्तम् भवन था, तो नवाब आसफ़उद्दौला का अपना निवास-भवन तो इससे सरल, सादा ही रहा होगा? यदि ऐसा है, तो वह है कहाँ? अबू तालिब हमें आसफ़उद्दौला के निवास-स्थान का पता दे पाने में विफल रहा है। क्या इससे भी अधिक उपहासास्पद इतिहास हो सकता है?

अबू तालिब का एक अन्य हतबुद्धि कारी कथन यह है कि आसफ़उद्दौला

के भवन, आसफ़उद्दौला के आदेश पर गिराए गए गरीब जनसमूह के सीधे-सादे घरों से नृशंसतापूर्वक ली गई सामग्री से ही बनाए जाते थे। इसका अर्थ यह है कि आसफ़उद्दौला अपनी निर्धन प्रजा से न केवल अधिक दरिद्र, अकिंचन ही था, अपितु एक ऐसा लुटेरा, डाकू भी था जो अपनी प्रजा से लूटी गई वस्तुओं से ही अपना काम चला लेता था। साथ ही, पाठक इस बात पर भी विचार कर सकते है कि क्या गिरायी गयी गन्दी बस्तियों के घरों की लकड़ी और ईंटें किसी राजमहल के निर्माणार्थ उपयोग में लायी जा सकती थीं? राजप्रासादों के निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाली सामग्री गरीबों के घरों के निर्माण में लगी सामग्री से बिल्कुल भिन्न होती है। घटिया प्रकार के मकानों में प्रयुक्त सामग्री इस योग्य नहीं रह पाती कि उसे पुनः राजमहलों के निर्माण के समय काम में लाया जा सके। साथ ही, निर्धनों के सरल-सादे घरों को गिराकर, उनसे प्राप्त प्रयुक्त सामग्री को पुनः काम में लाने को मजबूर दरिद्रावस्था को प्राप्त शासक एक राजमहल निर्माण कर सकने की आशा कभी नहीं कर सकता।

अबू तालिब यह भी चाहता है कि हम विश्वास करें कि आसफ़उद्दौला भवन के बाद भवन बनवाया करता था, हर एक में मात्र दो या तीन दिन के लिए रहता था और फिर अन्य भवन में निवास करने के लिए पहले वाले को छोड़ दिया करता था। यह तो असंदिग्ध रूप में बेहूदा कथन प्रतीत होता है, और आश्चर्य करने पर विवश कर देता है कि कहीं अबू तालिब महत्त्वोन्माद से पीड़ित तो नहीं है। आसफ़उद्दौला के बारे में लिखने वाले अन्य किसी भी रचनाकार ने वैसा बेहूदा दावा नहीं किया है। अतः आइए हम अबू तालिब के लेखन कार्य का आशय स्वयं स्पष्ट करें।

हर दूसरे-तीसरे दिन भवन बदलने का, मोटे रूप से, अर्थ प्रति सप्ताह दो मकान होगा। चूँकि वर्ष में ५२ सप्ताह होते है, इसीलिए आसफ़उद्दौला ने प्रति वर्ष १०४ मकान तो बदले ही होंगे! अतः २२ वर्ष के दीर्घ शासनकाल में उन राजप्रासादीय-भवनों की कुल संख्या, जिनका निर्माणादेश आसफ़उद्दौला ने दिया था और अपने जीवन-काल में जिनमें वह रहा था, २,२२८ होगी। अब, नवाब की मुक्तहस्त फ़िज़ूलखर्ची की, नासमझी की आतुरतापूर्वक कहानियाँ दोहराना सीखे हुए कोई सरकारी मार्गदर्शक, या पर्यटन विभाग का कर्मचारी या लखनऊ विश्वविद्यालय में इतिहास संकाय का कोई सदस्य, अथवा लखनऊ का कोई

निवासी क्या हमें वे २,२८८ भवन बता सकता है जो आसफउद्दौला द्वारा निर्मित कहे जा सकते है, जिनको उसके द्वारा बनवाया गया कल्पना किया जाता है? स्पष्टता, आसफ़उद्दौला ने तो अत्यधिक शेखी वाला और जिस पर दम्भ भी किया जाता है, वह इमामबाड़ा भी नहीं बनवाया क्योंकि वह तथाकथित इमामबाड़ा प्राचीन हिन्दू मत्स्य भवन है।

इमामबाड़े के सम्बन्ध में हम पहले ही पर्यवेक्षण कर चुके है कि जो कुछ थोड़ा-बहुत विवरण अबू तालिब ने हमें दिया है, वह अन्य लोगों द्वारा कही गई बातों से सर्वथा भिन्न है। इसके अतिरिक्त, संगत, सम्बद्ध विवरण दिए बिना ही वह तथाकथित इमामबाड़े के निर्माणादेश के बारे में यों ही बात टाल जाता है। उसका मन्तव्य खोज पाना भी कठिन नहीं है। एक मुस्लिम व्यक्ति होने के नाते अबू तालिब की यही इच्छा थी कि वह यह दन्तकथा प्रचारित कर दे कि (तथाकथित) इमामबाड़ा मुस्लिम सम्पत्ति थी।

अबू तालिब के इस दावे से कि आसफउद्दौला हर दो या तीन दिन बाद एक नये मकान में चला जाता था, अन्य बहुत सारी बेहूदगियाँ भी सम्मुख उपस्थित हो जाती है। यह मानते हुए कि भवन निर्माण की सभी सामग्री आदेशानुसार उपलब्ध हो सकती है तथा एक राजप्रासादीय भवन के निर्माण में कम-से-कम एक वर्ष तो लगेगा ही, आसफउद्दौला को कम-से-कम १०० मकान प्रतिवर्ष तैयार करने पड़ते ताकि प्रत्येक भवन में आवश्यक साज-सामग्री जड़ी जा सके जिससे प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिन आसफउद्दौला अति शीघ्रतापूर्वक उसमें निवास कर सके।

अति शीघ्र किए जाने वाले ऐसे फेर-बदल के लिए मानक स्थावर-सामग्री और साज-सजावट सामान के अनेक जोड़ों की आवश्यकता होगी जिनको उन नये भवनों में अति शीघ्रता एवं तत्परता से लगाया जा सके ताकि बिना किसी असुविधा के अथवा बिना विलम्ब या प्रतीक्षा किए ही आसफउद्दौला वहाँ पदार्पण कर सके। इसके लिए किसी एक मानक योजना के अनुसार एक-से ही भवन बनाने होते! जब तक मानक भवन न हों, तब तक मानक स्थावर-सामग्री नहीं हो सकती। यदि प्रत्येक भवन भिन्न-भिन्न प्रकार का हो, तो नये नमूने की साज-सामग्री के अनेक प्रकार चाहिएं। साथ ही, जैसी चंचल मति वाला नवाब आसफ़उद्दौला बताया जाता है, मकान का चयन करने के सम्बन्ध में तो वह व्यक्ति उसे दिये गए भवन के प्रति नाक-भौं भी चढ़ा सकता है—चिड़चिड़ा

सकता है। ऐसे मामलों में क्या हुआ? भवनों को बनने में सालों लगते है, अन्तिम रूप और साज-सजावट करने में महीनों लगते है और उन भवनो में स्वामी को पधारने व रहने में हफ्तों लग जाते है। प्रत्येक तीसरे-चौथे दिन मकान को बदलते रहने वाला तो अति दुःखी व्यक्ति होगा। ऐसी परिस्थितियों में यह आग्रहपूर्वक कहना कि आसफ़उद्दौला हर दूसरे-तीसरे दिन एक नये भवन में पधारता था, अत्यन्त हास्यास्पद है। इससे तो एक तिथिवृत्त लेखक और मानव के रूप में अबू तालिब की प्रतिभा और सत्यता पर ही प्रकाश पड़ता है। अभी तक इतिहासकारों ने मुस्लिम तिथिवृत्त लेखन में छिपे उस नितान्त असत्य को, धोखे को, खोज निकालने में पूरी विफलता ही हासिल की है जिसे ऊपर लिखी विधि—सूक्ष्म जाँच-पड़ताल—द्वारा—तुरन्त दर्शा दिया जा सकता है।

अबू तालिब द्वारा लिखित टिप्पणियों में कुछ भी विश्वास स्थापित करने से पूर्व यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि आसफ़उद्दौला एक दिवालिया नवाब था। वह, मध्यकालीन भारत के अन्य मुस्लिम शासकों की ही भाँति, स्वयं अपना सिर छुपाने के लिए छत के मामले में भी, लूट-खसोट से अपव्यय तक ही जीवन-व्यतीत करने वाला व्यक्ति था, जैसा अबू तालिब ने दर्शाया है। वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का घोर कर्ज़दार हो गया था जिसके लिए इसे बराबर तंग किया जाता था। कम्पनी अपनी धनराशि वसूलने के लिए हमेशा उसके सिर पर खड़ी रहती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्रसन्न करने के लिए आसफ़उद्दौला को कपट-जाल फैलाना पड़ता था, और स्वयं अपनी माँ व अपने पिता कि माँ (दादी) को ही लूटना-खसोटना पड़ता था। क्या ऐसा कोई व्यक्ति प्रत्येक दूसरे-तीसरे दिन एक विशाल भवन से अन्य भवन में अंतरण करने का साहस कर सकता है?

अबू तालिब आगे लिखता है—"राज्य द्वारा सर्वस्य अपहरण की रीति-नीति पिछले नवाब के समय से ही कानून द्वारा लागू है।"[१२] मुस्लिम शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत में यह सामान्य प्रथा थी कि ज्योंही कोई व्यक्ति मरता था, त्योंही—उसी समय से—उसकी सारी सम्पत्ति मुस्लिम शासक की सम्पत्ति हो जाती थी। मृतक व्यक्ति के बाल-बच्चों अथवा उसके आश्रितों को, कंगालों के रूप में पुनः जीवन-यापन प्रारम्भ करना पड़ता था।

---

१२. 'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन', पृष्ठ ९७-९८।

महिलाओं के प्रति आसफ़उद्दौला की कमज़ोरी, निचले स्तर के आश्रित व्यक्तियों की पत्नियों के प्रति भी उसकी कामुक-वृत्ति का नेत्रोन्मेषकारी दृष्टान्त अबू तालिब ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। तालिब लिखता है—"वज़ीर अली (दरी-झाड़ने वाला) एक फ़र्राश का बेटा था, और फ़राश ने कुछ धन के बदले में अपनी पत्नी वज़ीर (आसफ़उद्दौला) को सौंप दी थी, जब वह गर्भवती थी। यह अपने प्रकार का एक ही मामला नहीं है। वज़ीर के नौकर-चाकर जिस किसी महिला को गर्भवती पाते और खरीद सकते थे, उसे खरीद लेते थे और उसे वज़ीर के हरम में रख देते थे। कई बार तो गर्भवती औरत स्वयं ही वज़ीर की सवारी के पास आकर खड़ी हो जाती और कहती —"यद्यपि आपको वह समय अब याद नहीं रहा जब मैं आपके साथ सोयी थी, फिर भी अपने उस बेटे पर तरस करो जिसे मैं अपने गर्भ में लिये हुए हूँ।"[१३]

आसफ़उद्दौला के सामान्य अत्याचारों के बारे में अबू तालिब ने पर्यवेक्षण किया है—"वज़ीर आशा करता है कि उसके पूर्वजों के दावों और उनके नाम के कारण लोग उसके प्रति भी निष्ठावान रहेंगे, पूरे-पूरे इत्मीनान के साथ उसके इन अत्याचारों को सह लेंगे, उसके दुष्कर्मों की तरफ़—जो मृत्यु सहन करने से भी कठिन है—बिल्कुल ध्यान न देंगे, और शिकायत करने के लिए अपना मुँह भी न खोलेंगे। यदि कोई इतनी बेवकूफ़ी करता है कि वज़ीर की भर्त्सना करे तो वज़ीर व दरबार के चापलूस लोग उस आदमी के ऊपर राजद्रोह, स्वामीविमुखता एवं मुसलमानों के प्रति शत्रुता का दोष लगा देते हैं।"[१४]

तारीख़ फराबख़्श

अन्य समकालीन रचना का शीर्षक 'तारीख़-फराहबख़्श' है जिसको मुहम्मद फैज़बख़्श ने लिखा है। इसका अनुवाद भी विलियम होय द्वारा किया गया है।

इस मुस्लिम तिथिवृत्तकार ने लिखा है—"गुलाम अली खान गोरखपुर के कलक्टर के साथ, जो एक अंग्रेज व्यक्ति था, फ़ैज़ाबाद की सैर करने आया था। एक दिन उस कलक्टर ने गुलाम अली खान को कहा कि उस नगर की स्थापना

---

१३. वही, पृष्ठ १०८।
१४. वही, पृष्ठ ९५।

के बारे में सब कुछ बता दो। गुलाम अली खान ने अति तत्परता से मुझे एक पत्र लिख भेजा"। उस दिन से मेरे मन में यह बात पक्की तरह समा गयी कि मैं फ़ैज़ाबाद की स्मृतियाँ लिखूँ।" कलक्टर का यह अनुरोध सिद्ध करता है कि जिला गज़िटियर मुस्लिम निम्न-वर्गीय व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत उग्रवादी लेखाओं (विवरणों) पर ही आधारित है।

लेखक, नवाब आसफ़उद्दौला के व्यक्तित्व और चरित्र का वर्णन करते हुए लिखता है—"उस (आसफ़उद्दौला) के शरीर का ऊपरी भाग कुछ अधिक लम्बा था, किन्तु कमर से नीचे का भाग बहुत ही छोटा था। वह जब खड़ा होता था तो उसका सिर अपने चारों तरफ खड़े हुए लोगों की कमर तक ही पहुँचता था। अपने बचपन से ही वह तोंदवाला था; उसके मोटे कान, गर्दन और दुहरी-ठोड़ी सब एक मांसल ढेर थे। उसकी अंगुलियाँ और हथेलियाँ छोटी और उभरी हुई थीं। अपने लड़कपन से ही वह छिछोरेपन का आदी था और उसका स्वाभाविक झुकाव व मोह-लगाव निम्न-स्तरीय, दुर्जन्मे और दोगले मन वाले साथियों से था। वह बिना मतलब ही हँसा करता था, और अन्य लोगों पर व्यंग-बाण छोड़ा करता था तथा चाहता था कि जवाब में दूसरे लोग भी उसे खूब ताने भरी बातें कहें। वह निरर्थक दिल-बहलाव से बहुत खुश होता था और वहाँ अत्यधिक प्रसन्न होता था जहाँ उसे भद्दी भाषा का प्रयोग मिले। जिस साहचर्य में जितनी अधिक अभद्रता का प्रयोग होता था, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता था। यद्यपि उसने अपना अक्षर-ज्ञान कर लिया था, तथापि महा-कौतुक, मन-बहलाव उसके लिए अधिक आकर्षक थे। उसका पिता उसे कई बार बुलाया करता था और परीक्षा लिया करता था, किन्तु वह जानता था कि लड़के की प्राकृतिक रुचियाँ और झुकाव उन वस्तुओं की ओर थे जो किसी नवाब के बेटे के योग्य न थीं। उसे इस बात का घोर खेद था"उसमें मित्रों के प्रति इतनी रुक्षता और असंवेदनशीलता बढ़ गई थी कि जिस क्षण किसी अत्यल्प बात पर भी किसी मित्र ने उसका विरोध किया कि वह इतना लाल-पीला हो जाता था कि उसे अपने सम्मुख उपस्थित नहीं रहने देता था। आसफ़उद्दौला का विवाह इन्तिजाम उद्दौला की बेटी से हुआ था किन्तु उस (आसफ़उद्दौला) ने उसके संसर्ग, सहवास की इच्छा कभी प्रकट नहीं की। इतना ही नहीं, वह उसके साथ कभी सोया तक नहीं। उन्होंने उसकी काम-वासना जागृत करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु सब व्यर्थ रहा। उसके पिता ने सच्चाई का

पता उन लोगों और नपुंसकों के द्वारा लगा लिया जिनको उसके चारों तरफ़ रखा हुआ था और जो उसको डराते, धमकाते रहते थे। उस (आसफ़उद्दौला के पिता) ने उस (आसफ़उद्दौला) के कुछ साथियों को, जो दुश्चरित्र व्यक्ति थे, सारा जीवन के लिए कारावास में ठूँस दिया और कुछ निपट मूर्खों को रात्रि के समय नदियों में फेंक दिया। इतने पर भी उसका बेटा (अर्थात् आसफ़उद्दौला) अपनी दूषित, बुरी आदतों, कार्यवाहियों का परित्याग न कर पाया।"[१५]

आसफ़उद्दौला मोटा बौना आदमी हो, यह तथ्य समझ में आ सकने योग्य है क्योंकि वह पैतृक भाई-बहनों के मध्य विवाह के सगोत्र व्यभिचारात्मक सम्भोग-सम्बन्धों की उत्पत्ति था। साथ ही, उसके सभी पूर्वज शराबी और नशीली वस्तुओं का सेवन करने वाले नित्य-अभ्यासी थे, अप्राकृतिक, व्यभिचारी और बहु-स्त्रीगामी थे। यह स्वाभाविक ही था कि आसफ़उद्दौला शारीरिक रूप से बेडौल और चारित्रिक दृष्टि से कठोर, कामुक, लम्पट व्यक्ति था।

माँग कर अपनी ऊपरी शान जमाने के बावजूद दीन-हीन और दिवालिए लखनऊ के नवाबों के बारे में फ़ैज़बख़्श लिखता है कि, "जब नवाब शुजाउद्दौला (आसफ़उद्दौला के पिता) ने पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली और अपना क्षेत्र वापस अपने अधिकार में ले लिया, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भेंट-स्वरूप देने के लिए उससे चालीस लाख रुपये देने की माँग की गई। किन्तु ख़ज़ाना बिल्कुल खाली पड़ा था। इस राशि को अगले कुछ महीनों में चुकाने का वचन देकर नवाब बनारस से फ़ैज़ाबाद लौट गया।"[१६]

आसफ़उद्दौला अपनी माँ और दादी, दोनों से ही, जितना अधिक-से-अधिक धन हो सके, इस या उस धमकी के भरोसे ऐंठा करता था। वे दोनों विधवाएँ स्वयं अपना और अपने परिचरों का निर्वाह जिस-तिस प्रकार किया करती थीं। इसका वर्णन करते हुए फ़राहबख़्श लिखता है, "शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद जब आसफ़उद्दौला अपनी माँ, बहू-बेगम के पास, महूदी घाट की तरफ़ प्रस्थान करने वाला था (जब शुजाउद्दौला की मृत्यु हुए अभी १० दिन भी नहीं बीते थे), उसे छः लाख रुपये की राशि प्राप्त हो गई थी। माँ और बेटे के बीच

---

१५. 'तारीख़ फ़राहबख़्श', पृष्ठ १६-१८।
१६. वही, पृष्ठ १८-१९।

यह पहला विश्वास-भंग था।"[१७]

किन्तु अत्यधिक सत्ता और ऐश्वर्य का भोग करने वाला पद अभी हाल में प्राप्त करने वाला वह लम्पट युवक आसफ़उद्दौला उस धनराशि को कुछ ही दिनों में खर्च कर बैठा। फ़ैजबख़्श ने लिखा है, "चूँकि यह छः लाख रुपये की राशि (असंख्य) चींटियों की भाँति ताम-झाम के रख-रखाव, इनामों और उपहारों तथा भोगासक्तियों के कारण एक ही मास में समाप्त हो गयी थी,˝ उसने मुरतज़ा खान को (जो अब मुख़्तारउद्दौला के नाम से जाना जाता था) एक बार फिर फ़ैज़ाबाद भेजा˝ बहू बेगम के पास˝ यह कहलवा दिया कि चूँकि यह बहुत ही कम राशि थी˝ खत्म हो गयी है और उसे इतने ही धन की फिर आवश्यकता थी।"

जब किसी माँ का बेटा एक डाकू की भाँति अपनी ही माँ से रुपया ऐंठे तो उस माँ के लिए जैसा स्वाभाविक ही होता है, ठीक वैसे ही "वह अत्यधिक ना-खुश हो गई और, फिर कुछ दिनों के लिए परस्पर बातचीत चलती रही। चार लाख रुपये दे दिए गए।"

प्रत्यक्षतः अति अपव्ययी आसफ़उद्दौला के लिए यह चार लाख रुपये बहुत कम थे। किसी बुरी सोहबत में पड़े हुए फ़िजूल-खर्च विद्यार्थी की भाँति आसफ़उद्दौला अभी भी अपनी माँ को ही वह सुनिश्चित स्रोत समझता था जहाँ से धन प्राप्त हो सकता था यद्यपि वह स्वयं भी नवाब के रूप में राजगद्दी पर बैठा था। उसके पूर्वजों ने सारी प्रजा को पहले ही पूरी तरह मूंड लिया था। साथ ही, विशाल क्षेत्र में फैली अपनी अधोगत प्रजा के बहु-पक्ष से धन ऐंठना उसके प्रशासनिक ढाँचे का वर्ष भर का नियमित कार्य हो गया था। फिर भी, वह सम्पूर्ण धन उसकी लालची और कामुक वृत्ति को संतुष्ट करने में पर्याप्त न हो पाया। जनता को लूटने के लिए भी एक विशाल बलकारी सैनिक और पुलिस व्यवस्था की आवश्यकता थी ताकि किसी व्यभिचारी अन्यदेशीय बादशाह की अनन्त माँगों को सुन-सुनकर किसी समय प्रतिकार करने के लिए हिंसक जन-समुदाय को दबाया जा सके। इसलिए, पर्दे की एक महिला, एक माँ और वह भी विधवा माँ, से रुपये-पैसे ऐंठना सरल और शीघ्र हो सकने वाला मार्ग था क्योंकि गुण्डा बन गए बेटे के विरुद्ध उसकी सुरक्षा का कोई उपाय शेष नहीं रह गया था।

---

१७. वही, पृष्ठ २०।

मुरतज़ा खान जब यह चार लाख की राशि लेकर आसफ़उद्दौला के पास पहुँचा, तो वह असन्तुष्ट ही रहा और स्वयं ही फ़ैज़ाबाद चल पड़ा। इस बार उसने ऋण की याचना की, जिसके बदले में अपनी कुछ भूमि गिरवी रखने और यह अपनी राजमुद्रा के अधीन लिखकर देने का स्वाँग किया कि वह अपनी माँ से पुनः कोई माँग नहीं करेगा।''[१८]

यह तो एक दिखावा मात्र था। सभी बदमाश और हड़पने वाले व्यक्ति ऐसी चालबाज़ियाँ करते ही हैं। आसफ़उद्दौला कोई अपवाद नहीं था।

फैज़बख्श आगे पर्यवेक्षण करता है—''(नवाब के अति विश्वासपात्र दरबारी) मुख्तार उद्दौला ने शराब पीना और जुआ खेलना शुरू कर दिया। वह हमेशा भ्रष्ट और अधोगत[१९] हिन्दुओं की सोहबत में ही रात-दिन रहा करता था।''उसने अपना ठिकाना पुराने यख[२०] मुहल्ले में हवेली में ही कर लिया। (एक बार जब आसफ़उद्दौला ने बहुत अधिक शराब पी रखी थी) मुख्तार उद्दौला ने उससे कहा, 'सफ़दरजंग और शुजाउद्दौला की जमा की हुई सारी दौलत बेगमों के पास है। यदि आप मुझे हुक्म करें, तो मैं चला जाऊँ और उनसे वसूल कर लाऊँ।' बेहोश मूर्ख (नवाब आसफ़उद्दौला) ने बिना विचार किए ही अपनी माँ और दादी को लूट लिये जाने की आज्ञा दे दी।'' (यद्यपि वह पहले भी लूट चुका था और लिखकर दे चुका था कि वह ऐसी माँग आगे फिर नहीं करेगा)।

अतः, मुख्तारउद्दौला एक सैनिक टुकड़ी और लखनऊ दरबार में ब्रिटिश रेज़िडेण्ट जान ब्रिस्टोव को साथ लेकर फ़ैज़ाबाद की तरफ़ चल पड़ा।

बेगम का घर-बार चारों तरफ़ से घिर गया था, और बातचीत शुरू हो गई। दोनों तरफ़ तलवारें खींच ली गई थीं। यद्यपि बेगम ने आँखों में आँसू भर-भर कर और सुबक-सुबककर दलील पेश की कि जब से उसका बेटा गद्दी पर आया था, तभी से वह माँ को अर्थ-दण्ड से पीड़ित करता रहा था, तथापि ब्रिस्टोव ने बेगम को परामर्श देकर समझाया कि किसी भी प्रकार का प्रतिरोध सफल नहीं होगा।

---

१८. तारीख़ फराहबख्श, पृष्ठ २१।

१९. मुस्लिम-दुष्कर्मों की निन्दा करते हुए भी धर्मान्ध, विदेशी, उग्रवादी मुस्लिम तिथिवृत्त लेखक (जैसे फराहबख्श) किस प्रकार 'हिन्दू' को अपमानित करते हैं, यह उसका उदाहरण है।

२०. यख संस्कृत के 'यक्ष' शब्द का प्रचलित अपभ्रंश है जो लखनऊ की पुरातनता का द्योतक है। हवेली अपहृत हिन्दू भवन था।

बेगम के भाई मिरज़ा अली खान ने भी, उसको प्रतिरोध की निरर्थकता के बारे में समझा दिया। इस प्रकार की बातचीत एक सप्ताह भर चलती रही और ''बेगम हार कर मान गई, और साठ लाख रुपये की धन-राशि पर समझौता हो गया। कुल मिलाकर, नकद चौबीस लाख रु० दिए गये और शेष छत्तीस लाख रुपए अन्य वस्तुओं के रूप में।'' आसफ़उद्दौला ने, फिर एक बार लिखकर दे दिया—''अब, आज के बाद, मेरा (आसफ़उद्दौला का) शुज़ाउद्दौला के समय में संग्रह किए गये धन या ज़ेवरों में से, किसी में भी कोई अधिकार या दावा या कोई सरोकार नहीं है।''मैं अगर फिर कभी ऐसी माँग करूँ या दावा करूँ, तो मैं खुदा की निगाह में, या पैग़म्बर या इमामों के सामने गुनहग़ार होऊँगा।''[२१]

यही पैंतरेबाजी बड़ी बेगम अर्थात् आसफ़उद्दौला के पिता की माँ के साथ भी चली गई। वह नवाब बेग़म के नाम से मशहूर थी। उसे जब गुस्ताख़ी से भरी माँग मिली, तो उसने भी एक षड्यन्त्र रच डाला कि जब मुख्तारउद्दौला धन प्राप्त करने के लिए आए, तब उसे जूतों से मार-मार कर ख़त्म कर दिया जाय। मुख्तारउद्दौला को समय रहते ही ख़बर हो गई और वह नवाब बेगम के भवन में प्रवेश करने से कतराता ही रहा। वह नवाब बेगम को गालियाँ देता, उसे कोसता हुआ लखनऊ लौट गया। कुछ दिनों बाद, उसे इटावा में मार डाला गया।

इस प्रकार से ऐंठी गई सारी दौलत आसफ़उद्दौला के अपने ऐशो-आराम पर ही खर्च की गई थी, जबकि उसके कर्मचारी लोगों को उनका वेतन तक नहीं दिया गया, और वे भूखों मरते रहे। इसकी साक्षी देते हुए फ़ैजबख्श लिखता है—''हिज़री सन् ११९० (अर्थात् १७७६ ई०) के वर्ष में फैज़ाबाद में तीन सैनिक टुकड़ियाँ थीं जिनकी कुल संख्या ३,००० व्यक्तियों की थी। उनको, आसफ़उद्दौला के राजगद्दी पर बैठने के बाद डेढ़ वर्ष तक कोई वेतन भुगतान नहीं किया गया, और यदि उनमें से किसी ने भी अपना वेतन माँगा, तो उसके सामने बन्दूकें तान दी जाती थीं और उसके सामने अनियमित लोगों को पंक्तिबद्ध खड़ा कर दिया जाता था। उनमें से कुछ मर जाते थे व शेष भाग जाते थे। यदि वे लोग—हो-हल्ला करने वाले—अनियमित हुए, तो उनको चुप कराने के लिए नियमित लोगों को तैनात कर दिया जाता था। यह तब तक जारी रहता था जब तक कि शुज़ाउद्दौला की इस फ़ौज की लगभग आधी संख्या

---

२१. तारीख़ फराहबख्श, पृष्ठ २७-२९।

इधर-उधर न बिखर जाए।"[२२]

फिर, तिथिवृत्त लेखक वर्णन करता है कि किस प्रकार ग़रीब सिपाही (सैनिक), चाहे वे नियमित हों अथवा अनियमित, बिना किसी प्रकार के वेतन को प्राप्त किए ही, एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े कर दिए जाते थे, तब वे अभाव और भूख से व्याकुल होकर, अपनी तनख्वाह के लिए बेग़मों से अनुनय-विनय करते थे। उनको बेग़मों का उत्तर मिलता था कि वे नवाब आसफ़ुद्दौला से अपना वेतन माँगें। इस प्रकार वे दोनों ओर से कठिनाई में फँस गये थे। जब नवाब द्वारा नियुक्त किए गए सैनिकों का एक बहुत बड़ा दस्ता वर्षों पर्यन्त बिना वेतन प्राप्त किए ही रहने पर विवश हो जाता था, तब भलीभाँति कल्पना की जा सकती है कि वे किस प्रकार जीवन-यापन करते रहे होंगे। वे अपना शिकार लखनऊ के निरीह असुरक्षित नागरिकों को ही बनाते रहते थे। और चूँकि नवाब के सैनिक अधिकांशतः मुस्लिम ही होते थे, अतः उनका अचूक निशाना हिन्दू ही सहज, स्वाभाविक रूप में होते थे। अच्छे दिनों में भी (यदि भारत में लुटेरे इस्लामी शासन के १००० वर्षीय शासन-काल में कभी अच्छे दिन थे तो) हिन्दू, 'अ-विश्वासी', 'काफ़िर' ही सही शिकार मान लिया जाता था। अब, ऐसी हालत में, जबकि नवाब की सेना को बहुत समय तक वेतन मिलता ही नहीं था, नागरिकों को—विशेषकर हिन्दुओं को लूटने का यह अन्य औचित्य था। इससे दोनों उद्देश्यों की—अर्थात् स्वयं का पेट भरना और हिन्दुओं का नाश करना—पूर्ति हो जाती थी—जो इस्लामी आचरण में उनके प्रशिक्षण के अनुसार सांसारिक और आध्यात्मिक सन्तुष्टि थी।

इस प्रकार की खुली बग़ावत होने के बावजूद, फ़राहबख़्श लिखता है—"आसफ़ुद्दौला सार्वजनिक मामलों के प्रति इतना उदासीन था और अपनी व्यर्थ की कामाकांक्षाओं की पूर्ति की धुन में इतना खोया हुआ था कि वह (सब ओर की बातों से) बेख़बर रहा।"[२३] जो लोग मुग्ध होकर दिन-रात कहते हैं कि आसफ़ुद्दौला ने इमामबाड़े का निर्माण अकाल-से राहत कार्य के रूप में करवाया था, उनको ध्यान में रखना चाहिए कि किस प्रकार आसफ़ुद्दौला के (और तथ्यतः

२२. वही, पृष्ठ ३०।
२३. वही, पृष्ठ ३६।

भारत में हर मुस्लिम शासक के, क्योंकि वे सब एक साँचे में ढले, पले-पोसे थे) शासनकाल के समकालीन तिथिवृत्त लेखक उसकी निरी कामुकता, लम्पटता और जन-कल्याण की भावना के प्रतिकूल, पूर्ण उदासीनता का ही उल्लेख करते हैं। क्या ऐसा स्वार्थी आदमी इमामबाड़ा बनवाने का आदेश दे सकता है? और यदि ऐसा आदमी निर्माणादेश दे ही दे, तो क्या यह निर्माणादेश सम्बन्धित दस्तवेज़ों में अनधिकृत, अलिखित ही रह जाएगा?

फ़ैज़ाबाद में अपने सैनिक-दस्तों की बग़ावत की बात सुनकर, आसफ़ उद्दौला ने लखनऊ से अपनी टुकड़ियों को आदेश दे दिया कि वे पहले वाले सैनिकों का दमन कर दें। उसने सन् १७८१ ई०में लखनऊ के सैनिकों को आदेश कि "वे वापस लौट आएँ और जिन सिपाहियों ने बग़ावत की थी, उनकी बन्दूकें साथ में लेते आएँ। किन्तु बेगम ने उनको तब तक लौटाने, सौंपने से मना कर दिया जब तक कि उसके चौरासी हजार रुपये वापस न कर दिए जाएँ।"[२४]

इस सब संघर्ष का वर्णन करते हुए फ़ैजबख़्श लिखता है—"(झगड़ा करने वालों की) एक तरफ़ आग़ा अबुल मजीद"' एक भयंकर चीत्कारी ईरानी मुगल था"जो उस राष्ट्र का व्यक्ति था जो भारत की जनता को घास के तिनके से भी तिरस्करणीय, गया-बीता समझता था।"[२५]

तिथिवृत्तकार फ़ैजबख़्श का कथन सही है। नए ईरानी नर-संहारक उन पूर्वकालिक ईरानियों के प्रति घोर तिरस्कार की भावना रखते थे जो भारत में ही बस गए थे, यद्यपि वे दोनों ही रक्त चूसने वाली जोंक के समान ही थे। इसी प्रकार, पूर्वकालिक ईरानी (और अरबी, अफ़गान, अबीसीनियन आदि भी) भारत में विदेशी नागरिक इस्लामी धर्म-सत्तानुशासन में अपने से हीन व्यक्ति के रूप में ही हिन्दुओं से धर्म-परिवर्तित मुस्लिमों को देखते थे। तथापि, कुल मिलाकर सभी मुस्लिमों के हृदय में 'केवल हिन्दुओं' के प्रति तीव्र तिरस्कार की भावना ही संजोयी, संरक्षित रखी हुई थी।

विदेशी मुस्लिम नर-हत्यारों द्वारा हिन्दुओं को, उनके अपने ही मूल निवास-स्थान हिन्दुस्तान में दी जाने वाली भीषण यातनाओं का अनुमान फ़ैज़बख़्श

२४. वही, पृष्ठ ४१।
२५. वही, पृष्ठ ४१।

की टिप्पणी से लगाया जा सकता है।

"नवाब मोहम्मद अली (सन् १७३९ ई०) के बाद (अर्थात् सफ़दरजंग के अधीन) अवध के नवाब के अधीन ख़ैराबाद (सीतापुर) का एजेन्ट (कमिश्नर—ज़िलाधीश) था। एक अवसर पर, पड़ोस के राजाओं के साथ उसकी मुठभेड़ हो गई सैकड़ों अविश्वासी (अर्थात् हिन्दू) नरक पहुँचा दिए गए। (अर्थात् उनकी हत्या कर दी गई, अथवा भीषण यातनाओं से उनको मार डाला गया), और उनकी अधिकांश महिलाओं और बच्चों को पकड़ लिया गया। नवाब जब अपनी चोटों, घावों से ठीक हो गया, तो उसने लड़कों को हिजड़ा बनवा दिया (अर्थात् उनका लिंग-भंग किया)। उनमें से एक मर गया, और शेष जीवित रहे। उसने मिर्ज़ा अहमद अली को उनका अध्यापक नियुक्त कर दिया। उसके अधीन, उन्होंने कुरान, सादी के गुलिस्ताँ और बोस्तां तथा कई अन्य फ़ारसी ग्रन्थों का अध्ययन किया धर्म-परिवर्तितों के नाम अम्बरअली, निशात अली, जवाहरअली रख दिए गए थे।"[२६]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट कि प्राचीन सीतापुर जैसे हिन्दू नगरों के नामों को ख़ैराबाद जैसी इस्लामी शैली के नामों में और हिन्दू बालकों को पकड़कर, उनका लिंग-भंग करके तथा उनको बाह्य-देशीय इस्लाम नाम देकर किस प्रकार इन विदेशी अपहरणकर्त्ताओं, नर-संहारकों ने सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का रूप ही परिवर्तित कर देने का यत्न किया है। यह भी पूर्णतः स्पष्ट है कि मुस्लिम प्रत्यय 'अली' पकड़े गए असहाय, हिन्दू बालकों अम्बर, निशात और जवाहर के नामों पर थोप दिए गए थे।

अपनी माँ 'बहू बेगम' को जिस प्रकार आसफ़उद्दौला भयातंकित करता था, उसे प्रेत-छाया के समान सदा पीड़ित, अशान्त रखता था—उसका वर्णन करते हुए फ़ैज़बख़्श ने लिखा है—"बेगम ने गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज को सन्देश पहुँचाया था कि आसफ़ उद्दौला ने एक से अधिक बार, उससे, उसके निजी तौर पर जोड़े गए ख़ज़ाने में से, उसके भाग में से पर्याप्त धन, उसकी मर्जी के साथ, अथवा बिना मर्ज़ी भी, ले लिया है।"[२७]

---

२६. तारीख़ फ़राहबख्श, पृष्ठ ८६-९०।
२७. तारीख़ फ़राहबख्श, पृष्ठ ११।

अपनी धन-दौलत पर लगातार लगी हुई आसफ़उद्दौला की लालची, शैतानी, टकटकी निगाहों से तंग आकर बहू बेगम ने उसे लिखा था—"अरे आसफ़उद्दौला, उस बात की तो कल्पना कर, तू जिसका अपराधी मेरे ही खिलाफ़ जो मैं तेरी माँ हूँ तेरे बाप की मौत होने के बाद से, जब तू सरकारी गद्दी पर बैठा, मुझे तेरे हाथों आघात और दुश्मनी के अलावा कुछ नहीं मिला है। मेरी जागीर के महलों/इलाकों पर तूने जो अपनी आँखें लगाने पर बुरे विचार अपने मन में सँजोए हुए हैं, उनको फ़ौरन बरख़ास्त कर दे।"[२८]

कुछ दिनों बाद जब नवाब आसफ़उद्दौला अपनी माँ से कुछ और धन ऐंठने के लिए उसके पास गया, तब उसकी माँ बहू बेगम ने उससे कहा—"क्या यह सच है कि तूने मुझसे तुझे एक करोड़ रुपए फिर देने के लिए कहा है? अरे मुझे बता, क्या अपने बाप की जिन्दगी में भी तूने कभी इतने सारे रुपये देखे हैं, अथवा क्या अपने स्वयं के राज्यकाल में भी तूने कभी इतना धन अपने खजाने में संग्रह किया है? मैं तो इतने सारे धन का कभी सपना भी नहीं ले सकी हूँ।"[२९] अफ़सोस न करने वाला, कभी न सुधरने वाला, नवाब फिर भी यही कहकर पीछे पड़ा रहा कि "यदि माँ, तू अपनी दौलत में से कुछ भाग मुझे दे दे, तो निश्चय ही मेरी कठिनाइयाँ कुछ कम जरूर हो जाएँगी।"

आगे चलकर, अपने तिथिवृत्त के पृष्ठ १५१-५२ पर फ़ैज़बख़्श हमें सूचित करता है कि बहू बेगम के विश्वास-पात्र सहायकों को झूठे-झूठे आश्वासनों का लालच दिया गया था और कैद कर दिया गया था ताकि उसकी अपना माँ पूरी तरह असुरक्षित, असहाय रह जाए और वह उससे एक करोड़ रुपया ऐंठ सके, वसूल कर सके। छः महीने के बाद आसफ़उद्दौला ने अपनी दादी की सारी सम्पत्ति भी ज़ब्त कर ली। कहीं भी, कोई तिथिवृत्त लेखक यह नहीं कहता कि ये सारी ज़ब्तियाँ और माँ से धन-ऐंठने के काम अकाल से पीड़ित व्यक्तियों को किसी काम में लगाने के लिए, किन्हीं निर्माण-कार्यों में उपयोग करने के सराहनीय प्रयोजन से, किए गए थे। यदि ऐसी कोई बात सचमुच होती, तो नवाब की प्रशंसा-सराहना की गई होती। किन्तु नवाब तो अपनी माँ और दादी को—जो

---

२८. वही, पृष्ठ १२०।
२९. वही, पृष्ठ १२७।

विधवाएँ थीं—सैनिक-दस्तों से घेरकर, और अपमानित-तिरस्कृत करके, उनसे निरन्तर धन ऐंठता रहा था। मात्र इसलिए कि उसकी अपनी दिनचर्या में—शराब और नशीली वस्तुओं के आदतन पीने में, स्त्री-सम्भोग कार्य में और अप्राकृतिक व्यभिचारी-दुष्कर्मों में—किसी प्रकार की कमी न रह जाए।

बहू बेगम की आर्थिक दशा इतनी फटे-हाल, शोचनीय हो गई थी कि सन् १७९१ ई० से आगे वह अपने मृत पति नवाब शुजाउद्दौला की कब्र पर कुरान पढ़वाने का खर्चा भी बर्दाश्त नहीं कर सकी। उस समय, (शुजाउद्दौला की माँ) नवाब बेगम ने ही उस खर्चे का भार उठाया था।[30]

चूँकि उसके बेटे आसफ़उद्दौला ने धन की माँग अधिक और अधिकाधिक, लगातार करके अपनी माँ को सारी जिन्दगी सन्ताप दिया था, इसलिए जब वह सन् १७९७ ई० में लखनऊ में मरा, तब अपने व्यभिचारी, लम्पट बेटे के साथ भी जीवित रहनेवाली 'बहू बेगम' को नवाब की सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा भाग, हाथी, शामियाने पशु हाथ लगे थे।''[31] इस प्रकार उसने कुछ बदला चुका लिया था। वह धूर्त, व्याभिचारी पुत्र उससे २० वर्ष पहले ही मर गया।

फ़ैज़बख़्श के समकालीन विवरण में उसने कोई दावा नहीं किया है कि आसफ़उद्दौला ने इमामबाड़ा बनवाया था।

हम अब एक शोध-कार्य (ग्रन्थ) के उद्धरण प्रस्तुत करेंगे। यह ग्रन्थ आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के विद्वान का प्रयत्न है जो तत्कालीन ब्रिटिश और मुस्लिम अभिलेखों पर आधारित है। इसको प्रस्तुत करने का आशय यह प्रदर्शित करना है कि आसफ़उद्दौला की शासनाविधि ऐसी लूट-खसोट, अपहरण की दु:खदायी लम्बी कहानी है जिसमें आसफ़उद्दौला द्वारा कुछ भी निर्माण करवाने का अथवा अपनी प्रजा के कल्याण का लेशमात्र विचार भी इंगित नहीं होता, दिखाई नहीं देता।

यदि नवाब आसफ़उद्दौला इमामबाड़े के निर्माण पर धन व्यय कर रहा होता तो, पीछे हम जिन दो तत्कालीन मुस्लिम ग्रन्थों का वर्णन कर आए हैं उनमें, अथवा अब जिस ब्रिटिश ग्रन्थ का उल्लेख करने वाले हैं उसमें तो उल्लेख मिल

३०. वही, पृष्ठ २३३।
३१. वही, पृष्ठ २६०।

जाता कि आसफ़उद्दौला इमामबाड़ा-निर्माण करने के सद्उद्देश्य से ही अपनी माँ और दादी को लूटता, ठगता रहा, उनसे धन ऐंठता रहा। साथ ही, हमें उस भवन का एक आधिकारिक अभिलेख और उस संरचना के निर्माण का आदि से अन्त तक यथार्थ लेखा प्राप्त हो जाता, लेकिन हमें ऐसा कुछ प्राप्य नहीं है।

हम जिस विद्वान के उद्धरण प्रस्तुत करने वाले हैं, वे हैं आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय में भारतीय इतिहास के प्रवाचक श्री सी० कोलिन डेविस, एम०ए०, पी-एच० डी०। उनकी ''वारेन हेस्टिंग्स और अवध'' शीर्षक शोध-पुस्तक सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुई।

श्री डेविस लिखते हैं—''जनवरी सन् १७८२ ई० के कुछ सप्ताह नवाब और बेगमों के मध्य झगड़ा तय करने में समाप्त हो गए थे। बेगमों पर जोर डालने के लिए सैनिक दस्ते भेज दिए गए थे। फ़ैज़ाबाद का किला जीत लिया गया था, और दो हिजड़े बन्दी बनाकर जेल में डाल दिए गए थे। २८ जनवरी, सन् १७८२ ई० तक (ब्रिटिश रेजिडेण्ट) मिडिलटन के अधिकार में अधिकांश खजाना आ चुका था, और उसने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कर्जा चुकाना शुरू कर दिया था।''[32]

डेविस ने इससे आगे वर्णन किया है कि किस प्रकार ब्रिटिश-संसद् में दोनों बेगमों के भेद छिपाने के लिए घूस लेने वाले वारेन हेस्टिंग्स पर भारी दोष लगाया गया था। अफ़सोस यह है कि दुर्भाग्यवश भारत में उस समय ऐसा कोई नहीं था जो उसी प्रकार स्वयं नवाब को भी, अपनी माँ और दादी को ठगने व उनसे उनकी धन-दौलत लूटने, उनको आतंकित, अपमनित करने के लिए दोषी ठहराता।

डेबिस बिल्कुल स्पष्ट रूप कहता है कि ''हेस्टिंग्स को मैसूर के हैदरअली और मराठों के विरुद्ध युद्ध लड़ते रहने के लिए धन की आवश्यकता थी।''[33]

स्पष्ट है कि धन इसलिए नहीं ऐंठा जा रहा था कि नवाब आसफ़उद्दौला किसी अज्ञात उपयोग-हेतु अनुपम, अवर्णनीय इमामबाड़े जैसे भवन के अद्भुत निर्माण में लग जाए। उस धन की आवश्यकता तो इसलिए थी कि व्यभिचारी आसफ़उद्दौला अपनी खर्चीली इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन को पानी की तरह बहा सके।

३२. सी० कोलिन डेविस विरचित ''वारेन हेस्टिंग्स और अवध'', पृष्ठ १६७।
३३. वही, पृष्ठ ३३।

डेविस हमें सूचित करता है कि "सन् १७८२ ई० के फरवरी मास में नवाब ने वारेन हेस्टिंग्स को १० लाख रुपये की उपहार-भेट देने की इच्छा प्रकट की थी।"[३४]

चुनार की सन्धि के अनुसार, नवाब, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्य ४४ लाख रुपए का देनदार था। "किन्तु बाद में यह मालूम हुआ कि पिछले सात वर्षों के २६ लाख रुपये की एक अन्य धन-राशि भी नवाब के ऊपर कर्ज थी जो मुख्यतः कम्पनी के बारूदखाने से नवाब को दी गई सैन्य-सामग्री के बदले में थी'' उसके बाद, सैनिक-सामग्री के ही लिए १४ लाख रुपये की एक अन्य राशि भी सामने आ गई। इस प्रकार कुल मिलाकर नवाब पर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ऋण ८४ लाख रुपया हो गया था।"[३५]

जब मिडिलटन को आदेश दिया गया कि वह नवाब के दरबार में ब्रिटिश रेज़िडेण्ट की हैसियत से अपना कार्यभार ब्रिस्टोव को सौंप दे, तो ब्रिस्टोव का पहला काम यह था कि वह भलीभाँति देख ले कि आसफ़उद्दौला ने कम्पनी के प्रति अपने कर्ज पूरी तरह चुका दिए थे। ब्रिस्टोव ने अपना प्रतिवेदन दिया कि आसफ़उद्दौला उसकी सरकार की तनिक भी परवाह नहीं करता था। बड़े-बड़े झुण्डों में इकट्ठे होकर चलने के सिवाय यात्रियों का भी सार्वजनिक मार्ग से गुजरना असुरक्षित है। दिन-दहाड़े हत्याएँ, चोरियाँ और मानवता के लिए घोर पातक होते हैं। बहुत सारे मामलों में विद्यमान सैनिक-टुकड़ियों के वेतन कई महीनों से नहीं दिए गये'' जमींदारों की बग़ावतें रोज़ाना की बातें हो गई थीं।"[३६]

क्या यह सम्भाव्य है कि वह आसफ़उद्दौला, जो ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने लाखों-लाखों रुपये के ऋण को चुकाने के लिए बारम्बार तंग किया जाता हो, जिसने अपनी माँ और दादी का धन ऐंठने, लूटने के लिए उनके खिलाफ़ बारम्बार सैनिक चढ़ाइयाँ कीं, जिसने अपने राज्य के अच्छे नियंत्रण के लिए कोई ध्यान नहीं दिया, और जिसके सैनिक दस्तों को कई महीनों से वेतन नहीं दिया गया था, अकस्मात मानवता के प्रति दयालुता की भावना से इस प्रकार द्रवित हो जाएगा कि इमामबाड़े का निर्माण करा दे! और यदि वास्तव में उसने

३४. वही।
३५. वही, पृष्ठ १९०।
३६. वही, पृष्ठ १९६-९७।

ऐसी अतिव्ययी परियोजना की होती, तो क्या समकालीन ब्रिटिश कर्मचारियों ने उसी तथ्य को नवाब के प्रति रोष प्रगट करने के लिए अपने अभिलेखों में अंकित नहीं किया होता?

इसके विपरीत, डेविस अपने शोध-ग्रन्थ में लिखता है—"नवाब के निजी खर्च को दी गई धनराशि अत्यन्त बुरी तरह खर्च की गई थी क्योंकि, इस राशि में से बहुत सारे धन का अन्य उपयोग किए जाने के बाद भी, उसके घरेलू हिसाब में बहुत खराबी, गड़बड़-घोटाले थे। कई विभागों को एक पैसा भी नहीं दिया गया था, नौकरों की कई-कई महीनों की तनखाह देनी बाकी थी'' वज़ीर के निजी खर्चों के लिए निश्चित किए गए रुपए अर्दलियों में अप-व्यय कर दिए गए''। ये लोग अत्यन्त नीच-जन्में व्यक्ति थे और अत्यन्त मिथ्याभिमानी थे।"[३७]

एक नवाब, जो अपने घर का ठीक बन्दोबस्त न रख सके और अपने घरेलू नौकरों की मजूरी भी नियमित रूप से न दे सके, अपनी प्रजा के कष्ट दूर करने के लिए इमामबाड़े का निर्माण नहीं करा सकता।

तथ्य रूप में तो नवाब आर्थिक दृष्टि से इतना बे-हाल और निराश हो चुका था कि नए रेज़िडेण्ट ब्रिस्टोव को नवाब के खज़ाने का पूरा नियंत्रण अपने अधिकार में लेना पड़ा था। डेविस लिखता है—"२१ अप्रैल, सन् १७८३ को हेस्टिंग्स ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशकों के मण्डल के सम्मुख आसफ़उद्दौला और उसके मन्त्री हैदरबेग खान, दोनों के वे पत्र प्रस्तुत किए जिनमें शिकायत की गई थी कि ब्रिस्टोव ने सभी सार्वजनिक लेखाओं का कार्यभार स्वयं सँभाल लिया था, और नवाब के निजी खर्चे व घरेलू प्रबन्ध का निरीक्षण व नियन्त्रण अपने अधिकार में कर लिया था। उस पर दोष लगाया गया था कि उसने कठोर और अनुचित भाषा का प्रयोग किया था, तथा नवाब के प्रति सामान्यतः तिरस्कार व अपमान का रुख अपनाया था।"[३८]

प्रचलित जन-विश्वास के अनुसार यही कल्पना की जाती है कि आसफ़उद्दौला ने इमामबाड़े का निर्माण सन् १७८४ ई० के अकाल में करवाया था। यह बात तो मूल रूप में ही बेहूदगी, असत्य प्रतीत होती है क्योंकि किसी भी प्रशासन को यह स्वीकार करने में ही महीनों लग जाते हैं कि अकाल की स्थिति है। उसके बाद, राहत

३७. वही, पृष्ठ १९७।
३८. वही, पृष्ठ २००-२०१।

योजनाएँ बनाने में भी कई महीने बीत जाते हैं। यदि अद्भुत इमामबाड़ा उस योजना का एक अंश रहा होता, तो उसकी योजना बनाने, सर्वेक्षण करने और भूमि अधिग्रहण करने में कम-से-कम पूरा एक वर्ष तो लगता ही । उसके पश्चात्, भवन-निर्माण स्वयं ही कई वर्षों तक चलता रहा होगा। यही वह यथार्थ अवधि है जिसमें ब्रिटिश रेज़िडेण्ट ब्रिस्टोव ने नवाब के वित्त-मामलों का नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया था। साथ ही, नवाब की घरेलू अवस्था अत्यन्त दारिद्र्यपूर्ण हो गई थी।

नवाब के ख़ज़ाने पर ब्रिस्टोव का पूर्णाधिकार और नियंत्रण इतना पूर्ण था कि कम्पनी को लिखे गए नवाब के पत्र में इसकी शिकायत थी—''ब्रिस्टोव ने (एक बार) बलात् नवाब के लिपिक को अपने घर पर ही आठ दिनों के लिए रोक लिया जहाँ उसे विवश किया गया कि वह नवाब के (मुटेयाना) सैनिक-दस्तों की उपस्थिति नामावली बनाए, और कम्पनी को दिए जाने वाले राजस्व के अपवाद के अतिरिक्त, अवध में सभी अन्य प्रकार के राजस्व का निपटान करने से उसे रोक दिया गया था।''[३९]

नवाब के अपने ही शब्दों में यह स्वीकृति है कि उसका सारा खर्च इतनी ही पूरी तरह से ब्रिस्टोव के नियंत्रण और उसकी जाँच-पड़ताल में था जितनी पूरी तरह से शिशु-विहार के बच्चे का बटुआ उसकी माँ के पूर्ण नियंत्रण में रहता है। ऐसी स्थिति में यदि आसफ़उद्दौला ने एक इमामबाड़ा बनवाने पर लाखों रुपये का खर्चा किया होता तो ब्रिस्टोव ने भी उस खर्च की सूची बनवायी होती और उस परियोजना का उल्लेख भी अवश्य किया गया होता। अन्य नहीं तो, इमामबाड़ा परियोजना का उल्लेख उस पत्र-व्यवहार में तो सम्मिलित होता जो मंज़ूरी के लिए नवाब ने ब्रिटिश कम्पनी के साथ किया था। किन्तु ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। ब्रिस्टोव ने भी खाते में इमामबाड़े के निर्माण की बात नहीं लिखी है। यह सिद्ध करता है कि आसफ़उद्दौला द्वारा किसी भी इमामबाड़े का निर्माण कभी भी नहीं किया गया था।

यदि इमामबाड़े-सम्बन्धी खर्चा लुक-छुपकर ही किया गया था, तो भी वह ब्रिटिश कम्पनी की दृष्टि से चूक नहीं सकता था क्योंकि, जैसा कि नवाब के मंत्री हैदरबेग खान ने मण्डल को अपने पत्र में शिकायत की थी, ब्रिस्टोव-प्रशासन ने उसे मजबूर कर दिया था कि वह अपने सभी कागजात, निरीक्षण हेतु उसे दे। साथ ही, विशाल इमामबाड़ा-परियोजना, यदि यह सचमुच ही संरचनाधीन रही होती तो

३९. वही, पृष्ठ २०२।

ब्रिटिश कम्पनी की दृष्टि में आने से न बच पाती, और कम्पनी ने ऐसे निष्प्रयोजन खर्च के लिए अवश्य ही नवाब से जवाब-तलबी की होती, जबकि उसके ऊपर उस (ब्रिटिश) कम्पनी का बहुत भारी कर्ज़ा चढ़ा हुआ था।

ब्रिस्टोव ने, बेगमों पर किए अत्याचारों के प्रश्न पर हुए भारी शोर-गुल में आत्म-सुरक्षा के समय नवाब के घर और राज्य में विद्यमान भयावह स्थिति का वर्णन किया था। उसने बताया था कि ''उस (नवाब) की सरकार के प्रत्येक विभाग में संभ्रम और भीख माँगने की अत्यन्त दरिद्रावस्था व्याप्त थी, उसकी पशु-शाला के पशुओं को कई बार बिना भोजन रहना पड़ता था, उसकी सेना को कई-कई मास वेतन नहीं मिलता था, उसके सम्बन्धी पेंशन नहीं प्राप्त कर पाते थे, और वह स्वयं, अपने चारों ओर विद्यमान विपन्नावस्था और निर्धनता के अभिशाप में जकड़ा जा रहा था।''[४०]

ब्रिस्टोव ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ''इस (हैदरबेग खान) के सात-वर्षीय मन्त्रित्व-काल में नवाब का राजस्व अपने वार्षिक-मूल्य में एक-तिहाई गिर गया है। गवर्नर जनरल ने कठोरतम शब्दों में उसके आचरण की तीव्र भर्त्सना बारम्बार की है और अपनी घोर ना-खुशी की उसे धमकी भी दी है।''

अवध में नियुक्त मेजर पामर ने गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को प्रतिवेदन दिया था, 'नवाब के प्रदेश में निर्धनता अति भयावह अवस्था को प्राप्त हो चुकी है।'

सन् १७८४ में, जिस वर्ष माना जाता है कि इमामबाड़ा निर्माणाधीन था, तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स लखनऊ में नवाब का अतिथि था। इस सम्बन्ध में डेविस लिखता है—''जनवरी, सन् १७८४ ई० में हेस्टिंग्स ने, जिसने पामर से सुन लिया था कि आसफ़उद्दौला उस (हेस्टिंग्स) को अवध आने का निमंत्रण देनेवाला था, लखनऊ जाने का प्रस्ताव रखा ताकि नवाब और कम्पनी के बीच का लेखा पूर्णतया समायोजित किया जा सके'''। जब नवाब का निमंत्रण १४ फरवरी, सन् १७८४ को मिला, तब यह तय किया गया कि हेस्टिंग्स अवध जाए'''। हेस्टिंग्स १७ फरवरी, सन् १७८४ ई० की संध्या को कलकत्ता से चल पड़ा। उसके आने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह था कि एक वर्ष के भीतर, कम्पनी की ओर से निरन्तर बढ़ते जाने वाले नवाब के ऊपर ऋण और बकाया धन-राशि का पूरा-पूरा हिसाब चुकता कर ले, वसूल कर ले।''[४१]

४०. वही, पृष्ठ २०८।
४१. वही, पृष्ठ २१८-१९।

भाग्यवश, हमें उस सही स्थान का उल्लेख मिल जाता है जहाँ लखनऊ
की यात्रा पर आए वारेन हेस्टिंग्स को नवाब ने ठहराया था। अबू तालिब ने लिखा
है—"इस (अर्थात् २६ नवम्बर, सन् १७८३ से १३ नवम्बर, सन् १७८४ ई०
तक) वर्ष की अन्य (महत्वपूर्ण) घटना गवर्नर हेस्टिंग्स की लखनऊ यात्रा थी।
वज़ीर (अर्थात् नवाब) ने उसे अपने दीवान-खाने में ठहराया जिसे इमारत-बावली
कहते हैं और अभिन्न मेहमान के रूप में उसकी आवभगत की।"[४२]

लखनऊ जाने वाला प्रत्येक दर्शक जानता है कि इमारत-बावली
इमामबाड़ा-संकुल का एक भाग ही है। इमारत-बावली तथाकथित इमामबाड़ा के
बगल में ही है। तथाकथित इमामबाड़ा बीच में है, और इसके दाईं तरफ़ इमारत
बावली है तथा बाईं ओर तथाकथित मस्जिद है। उन बहु-मंजिले भवनों में से हर
एक भवन में बीसियों कमरे हैं। ये तीनों एक विशाल, मोटी दीवार से घिरे हुए हैं।
इस परिधीय दीवार में भी दुमंजिले कमरे हैं। यही वह विशाल मन्दिर-राजप्रासाद
संकुल है जो आक्रमणकारी मुस्लिमों द्वारा विजित किए जाने से पूर्व इसके
हिन्दू-स्वामी-निर्माताओं द्वारा 'मत्स्य भवन' के नाम से पुकारा जाता था। हम इस
निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मत्स्य भवन' एक संस्कृत शब्द है। मत्स्य अर्थात्
मछली हिन्दू पुराण-कथा और परम्परा में १० अवतारों में से एक अवतार है।
भवन के नाम के सत्यानुरूप ही इस मन्दिर-राजमहल संकुल के ऊँचे-ऊँचे द्वारों के
दोनों ओर बड़े-बड़े मत्स्य अभी भी उत्कीर्ण देखे जा सकते हैं। ये आकृतियाँ और
मत्स्य-भवन नाम दरबारी चाटुकारों द्वारा लिखित उग्रवादी मुस्लिम वर्णनों के उस
दावे को झुठला देते हैं कि मत्स्य भवन गिरा दिया गया था, और उसी के स्थान
पर मुस्लिम विजेताओं ने इमामबाड़ा और एक मस्जिद का निर्माण करवा दिया
था।

उन मुस्लिम दावों का जाली, असत्य होना, कई बातों से, अनेक सूत्रों से
स्वतः प्रत्यक्ष है जैसे उनमें से किसी एक में भी इस बात का निश्चय नहीं है कि
हिन्दू मत्स्य भवन कब गिराया गया था? इसे गिराने की क्यों आवश्यकता हुई?
और इसे किसने गिरवाया था? यदि मत्स्य भवन गिरवा दिया गया था, तो उनके
पास इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि उस स्थान पर मत्स्य आकृतियाँ

४२. तक़वीमुल ग़ाफ़िलीन, पृष्ठ ७८।

अभी भी शोभायमान क्यों हैं? यदि यह माना जाता है कि इन मत्स्याकृतियों वाले
इस (बड़े) इमामबाड़े का निर्माण मुस्लिम नवाबों ने ही करवाया था, तो भी मुस्लिम
लेखकों ने इस बात का स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि किन कारणों से नवाबों ने
कुरान के धर्मादेशों की अवहेलना की है और अपने भवनों को मछली की मूर्ति
द्योतक आकृतियों से सुशोभित किया है।

स्वयं मुस्लिम लेखकों में से भी किसी को इस बात का निश्चित ज्ञान
प्रतीत नहीं होता कि किस मुस्लिम शासक ने क्या और कब बनवाया था? कुछ
लोग ऐसा दावा करते प्रतीत होते हैं कि पूर्वकालिक मुस्लिम शेख़ज़ादों ने एक
अथवा अधिक राजमहल बनवाए थे और फ़ारसी नामावली के प्रति अपनी रुझान,
रुचि होते हुए भी उन्होंने उनको 'पंचमहल' नामक संस्कृत नाम दिया। हमारा
विश्वास है कि पंचमहल नाम 'इमारत बावली' अर्थात् कूप के चारों ओर बने
भवन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यही वह भवन है जिसमें गवर्नर जनरल
हेस्टिंग्स को उसके आतिथेयी नवाब ने ठहराया था। अबू तालिब ने यह स्पष्ट कर
दिया है कि नवाब इस भवन को अपने दीवानखाने अर्थात् बैठक अथवा
अतिथि-गृह के रूप में ही उपयोग में लाया था। यह इस बात का ठोस प्रमाण है
कि नवाब स्वयं भी बगलवाले—साथ के बड़े इमामबाड़े में निवास किया करता
था। हेस्टिंग्स इसी अहाते में सन् १७८४ ई० में था और यह वही वर्ष है जिस वर्ष
में इस इमामबाड़े का निर्माण किया—कल्पना की जाती है। यदि इमामबाड़ा
निर्माणाधीन था, तो नवाब आसफ़उद्दौला वहाँ किस प्रकार ठहरा हुआ था। साथ ही
उसने नाक-भौंह चढ़ाने और अकारण क्रोधित हो जाने वाले ब्रिटिश गवर्नर जनरल
वारेन हेस्टिंग्स को उसी स्थान में नहीं ठहराया होगा जहाँ, विश्वासानुसार
इमामबाड़े का निर्माण करने वाले हजारों मजदूर काम कर रहे होते। इन मजदूरों
द्वारा इधर-उधर उठायी-फैलायी गयी धूल-मिट्टी व शोरगुल ने तो हेस्टिंग्स का
जीवन ही शोचनीय कर दिया होता। यह मुस्लिम दावे की नितान्त झूठ को सिद्ध
करता है कि आसफ़उद्दौला ने ही उस तथाकथित इमामबाड़े का निर्माण करवाया
था। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हेस्टिंग्स यह संकल्प करके आया था
कि वह कम्पनी के ८४ लाख रुपए नवाब से वसूल चुकता करेगा। जब नवाब के
सिर पर इतना ऋण था क्या वह विचार भी कर सकता था कि इतना व्ययशील
इमामबाड़ा बनवाया जाए?

जबकि हमारे द्वारा उद्धृत मुस्लिम लेखक अबू तालिब दावा नहीं करता है कि आसफ़उद्दौला ने स्वयं बावली-भवन का निर्माण किया था, एक अन्य उग्रवादी मुस्लिम लेखक ने यह सफ़ेद झूठ भी लिख डाला है।

'तारीख़ फ़राहबख्श' के लेखक मुहम्मद फ़ैज़बख्श ने उल्लेख किया है कि दरबार का एक मुस्लिम अध्यापक "पंचमहल" के पास उस स्थान में रहा जिसके पूर्वी किनारे पर आसफ़उद्दौला द्वारा निर्मित बावली स्थित है।"[४३]

प्रकरण से भिन्न प्रत्येक पूर्वकालिक हिन्दूभवन की संरचना का श्रेय किसी मुस्लिम शासक को निर्लज्जतापूर्वक दे देने की अति कुटिलतापूर्ण और गन्दी आदत, जो मुस्लिम तिथिवृत्त लेखकों में थी, उसका एक विशिष्ट उदाहरण ऊपर दिया गया है।

मुहम्मद फ़ैज़ से सर्वथा पृथक् , अबू तालिब यह दावा नहीं करता है कि आसफ़उद्दौला ने ही बावली-भवन का निर्माण करवाया था। हम ऊपर कुछ विस्तार सहित पहले ही देख चुके है कि किस प्रकार नवाब आसफ़उद्दौला एक धूर्त नवाब था जो ब्रिटिश लोगों के धन के पात्र भरने और शेष बची धन-राशि को अपने जंगली जानवरों को खिलाने-पिलाने व स्वयं की जंगली पाशविक-वृत्तियों की तुष्टि करने के लिए ही स्वयं अपनी माँ और दादी से विशाल धन-राशि ऐंठता रहता था।

स्वयं मुहम्मद फ़ैज़बख्श भी, जो यह दावा करता है कि नवाब आसफ़उद्दौला ने बावली-भवन और इमामबाड़ा भी बनवाया था, हमें यह नहीं बताता कि इसका रूप-रेखांकन किसने तैयार किया, यह कब बना था, इसके बनने में कितने वर्ष लगे थे और इस पर कितनी धन-राशि खर्च हुई थी। पाठक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कुओं के चारों ओर भवन-निर्माण करना तो हिन्दू नरेशों की प्रिय रुचि रही है। ऐसे कूप-भवन (बावली-इमारत) भारत के प्रायः प्रत्येक हिन्दू रजवाड़े की राजधानी में देखे जा सकते हैं। ये कूप प्रायः चतुष्कोणात्मक अथवा अष्टकोणात्मक है और इनके चारों तरफ़ बहु-मंजिले कमरे बने होते है। इसी प्रकार का एक कूप स्वयं ताजमहल में भी है, जिसे अब प्राचीन हिन्दू मन्दिर-महल संकुल सिद्ध किया जा चुका है। इसे शाहजहाँ ने हथिया लिया

४३. तारीख़ फ़राहबख्श, पृष्ठ ४८।

था—स्वयं उसका निर्माण नहीं कराया था।

स्पष्टतः मुहम्मद फ़ैजबख्श का, बिना किसी सन्दर्भ अथवा संगति के, मात्र यह लिख देने में, कि इमारत-बावली का निर्माण नवाब आसफ़उद्दौला द्वारा कराया गया था, उद्देश्य यह था कि वह एक अनुचित, असत्य दावे का उल्लेख करके भारत में मुस्लिम (भावी) सन्तति का लाभ कर रहा था। ऐसा करने में वह अन्य मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों की सु-व्यवहृत, अ-प्रमाणिक, बेईमान वाली आदत, परम्परा को ही निभा रहा था। वह जानता था कि यदि भविष्य में कभी किसी अज्ञात पाठक द्वारा इस ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन किया गया, तो वह स्वयं तो इस दुनिया से बहुत दूर ऐसी जगह पहुँच चुका होगा जहाँ से सूक्ष्म जाँच पड़ताल, जबान-तलबी के लिए उसे कोई नहीं ला सकेगा। इतिहास के विवेकशील विद्यार्थियों को चाहिए कि वे ऐसी अनुत्तरदायित्वपूर्ण उग्रवादी टिप्पणियों को तब तक ग्राह्य, स्वीकार न करें जब तक उनकी पूरी सूक्ष्म जाँच-पड़ताल न कर लें। नवाब आसफ़ उद्दौला द्वारा इमारत-बावली बनाए जाने वाले मुहम्मद फ़ैजबख्श के कथन पर विश्वास करने को इच्छुक व्यक्तियों को चाहिए कि वे अन्य समर्थनकारी प्रमाण भी ढूँढें और स्वयं से भी यह प्रश्न करें कि इनका निर्माण कब हुआ था, किसलिए हुआ था, इस पर कितना धन खर्च हुआ था, इसके रूप-रेखांकन और निर्माणादेश तथा मँगायी गई भवन-निर्माण सामग्री के संगत प्रलेख कहाँ है? तथ्य तो यह है कि, जैसा हम ऊपर लिख ही चुके है, आसफ़उद्दौला के पास किसी रचनात्मक कार्य के लिए समय ही नहीं था। उसका जीवन तो अपनी माँ और दादी को लूटने तथा उस सम्पूर्ण धन को या तो अपनी निम्न-स्तरीय वासनाओं की तुष्टि करने में अथवा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विशाल धन-ऋण चुकाने में ही बीत रहा था।

यदि आसफ़उद्दौला ने इमारत-बावली का निर्माण कराया होता, तो यह माँस-हीन पशु की आकृति जैसी न दिखायी देती, जैसी आज है। स्पष्ट है कि इसकी अलंकारिक हिन्दू प्रस्तर-साज-सज्जा को इसके मुस्लिम विजेताओं ने अपने धर्मांध मूर्तिपूजा-विरोधी उन्माद में उखाड़ फेंका है।

हमनें जैसा ऊपर उद्धृत किया है, अबू तालिब ने इमारत-बावली का निर्माण-श्रेय आसफ़उद्दौला को देने के बारे में चुप्पी साध कर ठीक ही किया है। वैसे उसी ने हमें यह सूचना दी है कि वारेन हेस्टिंग्स को उसके आतिथेयी ने उसी

इमारत-बावली में ठहराया था। इस सम्बन्ध में अबू तालिब ने जो कुछ कहा है, वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अबू तालिब पर्यवेक्षण करता है—"जब गवर्नर लखनऊ में ही था, अकाल पड़ गया और कीमतें इतनी ऊँची हो गयीं जितनी सैकड़ों वर्षों से लोगों ने कभी सुनी नहीं थीं। हजारों लोग अपक्षय के कारण मर गए। उपनगरों में लाशों के ढेरों से उत्पन्न हुई सड़ाँध ने, सारे शहर में दुर्गन्ध फैला दी। इस विपत्ति के समय में कुछ अंग्रेज लोगों ने जो लखनऊ में निवास कर रहे थे, अकाल-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति असीम सहानुभूति दिखायी, जब तक अकाल चलता रहा तब तक पाँच सौ या एक हजार असहाय व्यक्तियों को भोजन तथा स्वास्थ्य-चिकित्सा उन अंग्रेजों में से प्रत्येक व्यक्ति ने प्रदान की, और फिर उनको घर भेज दिया।"[४४]

यह अति महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है जबकि मुस्लिम उग्रवादियों ने चुप्पी साधी है और जनता को यह विश्वास दिलाकर भ्रमित किया है कि यह तो आसफ़उद्दौला ही था जिसने अकाल-राहत कार्य के रूप में इमामबाड़े का निर्माणादेश दिया था। अबू तालिब ने, जो नवाब का समकालीन और एक कर्मचारी था, हमें सूचित किया है कि यद्यपि लखनऊ में मर रहे और भूख से तड़प रहे लोगों पर अंग्रेजों ने भी तरस खाया, तथापि नवाब ने उन लोगों की विपत्ति दूर करने में कोई कार्य स्वयं नहीं किया। फ्रांस के विद्रोह की ही भांति, नवाब आसफ़उद्दौला ने भी यह आश्चर्य किया होगा कि लखनऊ के लोग रोटियां उपलब्ध न होने पर 'केक' खाकर काम क्यों नहीं चला लेते!

अतः लखनऊ के निवासियों, इतिहास के विद्यार्थियों और इमामबाड़े के दर्शकों को इस अभिप्रेरित कपट-कथा में विश्वास नहीं करना चाहिए कि आसफ़ उद्दौला ही वह व्यक्ति था जिसने बड़ा इमामबाड़ा या लखनऊ मे कोई भी भवन बनवाया था। यह अफसोस की बात है कि यद्यपि लखनऊ में एक विश्वविद्यालय और उस विश्वविद्यालय के कर्मचारी वर्ग में योग्य इतिहासकारों की विद्यमानता की शेख़ी बघारी जाती है, तथापि आसफ़उद्दौला द्वारा बड़ा इमामबाड़ा बनवाने की एक कपट-कथा को मात्र सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही पुष्ट हो जाने दिया है। यह तो भारतीय इतिहास से सम्बन्धित शोधकार्य की स्थिति का अत्यन्त दुःखद

४४. तफ़्ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन, पृष्ठ ७८।

प्रतिबिम्ब है। हज़ार-वर्षीय लम्बे इस्लामी शासन के चिरकालिक आतंक का दुष्प्रभाव भारतीय मानस पर इतना अधिक प्रतीक होता है कि जब कभी और जहाँ कहीं कोई मुस्लिम दावा विद्यमान होता है, वहाँ वे उस दावे की वैधता अथवा उसके समर्थन में किसी प्रमाण को माँगने का साहस ही नहीं कर पाते। वे सहज रूप में स्वीकार कर लेते है कि वह मुस्लिम दावा वैध है, और यदि वह अवैध भी है तो उसे सहन कर लेते है। आश्चर्य तो यह है कि पश्चिमी विद्वानों ने भी वही प्रवंच्यता अथवा अरुचि अथवा आतंकित होने की स्थिति का प्रदर्शन किया है। यह प्रदर्शित करता है कि पश्चिमी शोधकर्ताओं की क्षमता मे प्रस्थापित जन-विश्वास अनुचित है। कम-से-कम भारत में ऐतिहासिक शोध के क्षेत्र में तो वे बिल्कुल ही अयोग्य सिद्ध हुए है। बड़े इमामबाड़े का निर्माता होने के आसफ़ उद्दौला के दावे में झूठ, असत्यता को खोज पाने में उनकी विफलता और भी अधिक शोचनीय एवं तिरस्कार-योग्य है। क्योंकि आसफ़उद्दौला के शासन-काल का इतिहास ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास के साथ गुँथा हुआ है। आसफ़उद्दौला के सभी कामों पर, लखनऊ और उसके आस-पास ब्रिटिश कर्मचारियों की निरन्तर निगरानी रहती थी। उनकी दैनन्दनियाँ, सरकारी टिप्पणियाँ और पत्र-व्यवहार उपलब्ध है, किन्तु फिर भी कीन, होय, फ़र्ग्युसन और परसी ब्राउन जैसे ब्रिटिश लेखकों ने इस जन-विश्वास को बिना टोका-टाकी किए, किसी प्रकार की शंका के अभाव में ही प्रचलित हो जाने दिया है। इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि उन्होंने ताजमहल जैसे भवनों और फतेहपुर सीकरी जैसे नगरों के बारे में किसी प्रकार के घोटाले की शंका नहीं की। एक हजार वर्षीय मुस्लिम शासनकाल में लड़खड़ाते मुगल-खानदान से भारत में सार्वभौम -सत्ता ग्रहण करते हुए ब्रिटिश लोगों ने उस समय प्रचलित और पक्की तरह से जड़ें जमाए हुए कपट-जालों में प्रारम्भ से ही यह विश्वास कर लिया कि भारत में सभी महत्त्वपूर्ण नगरों और भवनों की स्थापना मुस्लिमों द्वारा ही की गई थी। उन कपट-जालों को पूर्णतः अंगीकार करते हुए ब्रिटिश लोगों ने भारतीय इतिहास में किसी भी प्रकार के शोध के प्रति सहज अयुक्तियुक्तता का प्रदर्शन ही किया है। इमामबाड़े पर एक सरसरी दृष्टिपात के बाद तनिक सूक्ष्म विवेचन से ही उनको यह अनुभूति हो गई होती कि वह मुस्लिम दावा निराधार ही था। यदि यह इमामबाड़ा अभी २०० वर्षों से भी कम समय पूर्व का ही बना हुआ होता, तो वह

इतनी ध्वस्तावस्था और लापरवाही को प्राप्त न हुआ होता। यदि ब्रिटिश लोगों में यह भावप्रवणता रही होती, तो उन्होंने इस्लामी दावों की जाँच-पड़ताल की होती और यह मालूम कर लिया होता कि लखनऊ के साथ-साथ फैजाबाद के भी सभी ऐतिहासिक भवन प्राचीन हिन्दू सम्पत्ति हैं। जैसा भी है, पूर्वकालिक ब्रिटिश शासक और विद्वान लोगों ने भारतीय इतिहास को निरर्थक, निस्सार इस्लामी दावों से भर दिया है और ब्रिटिश पुरातत्त्व अधिकारियों ने आँखें मूँदकर उस पर अपनी मोहर लगाकर, आधिकारिकता का प्रमाण-पत्र दे दिया है। यह न केवल शैक्षिक कु-सेवा है अपितु घोर उपेक्षा और अनौचित्य भी है जिसकी तीव्रतम निन्दा की जानी चाहिए।

६

तथाकथित महान इमामबाड़ा

इससे पूर्व अध्याय में यह देख लेने के बाद कि आसफ़उद्दौला एक ऐसा दिवालिया नवाब था जो स्वभावतः शरीर-सुख भोगी, कामुक, सांसारिक भोगलिप्त था। हम इस अध्याय में उस समस्त साक्ष्य की जाँच-पड़ताल करेंगे जो तथाकथित (बड़े) इमामबाड़े के सम्बन्ध में उपलब्ध है।

इस सम्बन्ध में दो विशिष्ट विवरण मिलते हैं। सर्वाधिक मान्य विचार यह है कि नवाब आसफ़उद्दौला ने लखनऊ नगर के अकाल पीड़ित व्यक्तियों के हितार्थ राहत-कार्य के रूप में बड़े इमामबाड़े का निर्माण सन् १७८४ ई० में कराया था। एकमात्र दूसरा विवरण मुहम्मद फैजबख्श का है। केवल उसी ने लिखा है कि इमामबाड़े का निर्माण सन् १७८४ में नहीं अपितु सन् १७९१ ई० में हुआ था , और अकाल से राहत के लिए नहीं अपितु ताजियों के कारखाने के रूप में हुआ था। उपर्युक्त दोनों में से एक भी विचार की पुष्टि प्रलेखात्मक प्रमाण अथवा स्वयं परिस्थिति-साक्ष्य से भी तो नहीं होती है। उन दोनों परस्पर विभिन्न विवरणों से कोई भी विवेकी, निष्पक्ष इतिहासकार यह निष्कर्ष निकालने में सक्षम होना चाहिए कि वे एक-दूसरे साक्ष्य को निष्फल कर देते हैं, और इसलिए बड़ा इमामबाड़ा (व छोटा वाला इमामबाड़ा भी) एक पूर्वकालिक हिन्दू भवन है। मुहम्मद फैजबख्श की टिप्पणी, संयोगवश, हमें इस बात का एक विशिष्ट और स्पष्ट उदाहरण भी प्रदान करती है कि नितान्त झूठे; निराधार दावे भी लिखते समय मुस्लिम तिथिवृत्तकारों की पलकें भी नहीं झपकती थीं। इस्लामी उग्रवाद की माँग थी कि इस्लाम के लिए वे भारत में बने सभी भवनों और नगरों के लिए (अपने)दावे करें। यह कार्य उन्होंने प्रमाण के किसी विचार की चिन्ता किए बिना ही निर्लज्जतापूर्वक और बदले की भावना से किया। यह तथ्य इस पुस्तक में तथा इसकी पूर्व-पुस्तकों में, यथा 'ताजमहल हिन्दू राजभवन है', 'फतहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर है', 'आगरे का लाल किला हिन्दू भवन है', 'दिल्ली का लाल किला

हिन्दू लालकोट'—भली-भांति सिद्ध दिग्दर्शित किया जा चुका है।

एक अंग्रेज लेखक लिखता है—''इस इमामबाड़े का निर्माण नवाब आसफ़उद्दौला द्वारा घोर दुर्भिक्ष के वर्ष में सन् १७८४ ई० में कराया गया था, ताकि दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों को कुछ राहत मिल सके। कथा में कहा गया है कि ''बहुत सारे उच्च पदाधिकारी , उच्च वर्गीय लोग भी भूख से पीड़ित होकर इस कार्य में मजदूरी करने पर बाध्य हो गये थे, और उनका मान-सम्मान बनाये रखने के लिए उनको रात्रि के समय बुलाया जाता था व उनकी मजदूरी का भुगतान किया जाता था। नवाब के सभी वास्तुकलाकार बुलाए गए थे और उनसे कहा गया कि वे अपनी प्रतियोगितापूर्ण योजनाएँ प्रस्तुत करें, तथा यह ध्यान रखें कि भवन, मात्र किसी की नकल न हो अपितु सौन्दर्य और विशालता में अन्य सभी भवनों से श्रेष्ठ होना चाहिए। भवन पर जो विशाल, शानदार अलंकरण और साज-सजावट सुशोभित थे, वे सभी विनष्ट हो गए हैं, किन्तु इमामबाड़ा अपने निर्माता के भव्य स्मारक के रूप में (सिर ऊँचा करके) खड़ा है और यहीं पर इसका निर्माता नवाब भी दफनाया पड़ा है।''[१]

उपर्युक्त अवतरण कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहली बात तो यह है कि किसी अकथनीय अर्थात् मात्र कानाफूसी,सुनी-सुनाई बात के अतिरिक्त इसमें किसी भी ऐसे आधिकारिक प्रमाण का उल्लेख नहीं किया गया है जिसमें सिद्ध हो कि आसफ़उद्दौला को इमामबाड़े का निर्माण-श्रेय देना उचित है। यदि इमामबाड़ा सन् १७८४ ई० में ही बनाया गया था, जैसा कि दावा किया जाता है, तो इसे अभी २०० वर्ष भी बने हुए नहीं हुए हैं। फिर, क्या कारण है कि इसका कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है जबकि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी, नवाब और उसकी माँ व दादी के मध्य परस्पर खींचा-तानी के सभी विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं? यदि नवाब ने सचमुच ही इमामबाड़ा बनवाया होता, तो ब्रिटिश कम्पनी ने, जिसका बहुत भारी ऋण नवाब पर चढ़ा हुआ था, उस परियोजना पर आपत्तिजनक उँगली उठायी होती अथवा नवाब से कहा होता कि वह उस नवीन इमामबाड़े को उनके पास गिरवी रख दे। इससे भी अधिक उलझन वाली बात यह है कि लगभग सन् १७८४ ई० में ही तो ब्रिटिश गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स

१. जी० डब्ल्यू फॉरेस्ट लिखित ''भारत के नगर'' पुस्तक का पृष्ठ २२६।

नवाब का अतिथि बनकर लखनऊ में ठहरा था। साथ ही, उसे इमारत-बावली में ठहराया गया था जो इमामबाड़े के साथ ही बनी हुई है। क्या वारेन हेस्टिंग्स के साथी कर्मचारियों ने इमामबाड़े का निर्माण अंकित नहीं किया होता? जैसाकि उपर्युक्त अवतरण में कहा गया है, यदि इमामबाड़े का निर्माण रात में अथवा दिन में होता था, तो क्या वारेन हेस्टिंग्स की निद्रा में धूल-मिट्टी, कोलाहल और चीख-पुकार से विघ्न-बाधा कभी नहीं हुई थी? किन्तु किसी अभिलेख में ऐसा अंकित नहीं मिलता है जो यह दर्शाता हो कि वह (वारेन हेस्टिंग्स) कभी नाराज या अशान्त हुआ हो। एक अन्य मुख्य प्रश्न यह है कि उस समय नवाब स्वयं कहाँ ठहरा हुआ था? हमारा साग्रह कथन है कि नवाब स्वयं इमामबाड़े में ही निवास करता था क्योंकि समकालीन लेखकों ने उस इमारत-बावली का संदर्भ नवाब के दीवान-खाने अर्थात् बैठक अर्थात् अतिथि-गृह के रूप में प्रस्तुत किया है। नवाब बहुत दूर कहीं नहीं ठहर सकता था, क्योंकि ऋणी-आतिथेयी के रूप में नवाब को ब्रिटिश गवर्नर की कृपा अति वांछनीय थी। अपने ब्रिटिश ऋणदाता अतिथि को सदा प्रसन्न रखने के लिए सारी व्यवस्था का निरीक्षण नवाब को स्वयं ही करना पड़ता था। नवाब अपने परिचरों के भरोसे नहीं रह सकता था क्योंकि वे सब बेईमान, भ्रष्टाचारी, आवारागर्द थे, जो अपना समय धूम्रपान, बातचीत और अश्लील क्षुद्रताओं में गँवाते फिरते थे।

यह विश्वास भी निस्सार है कि प्रबुद्ध, गणमान्य व्यक्तियों ने भी रात्रि के मजदूरों के रूप में कार्य किया था क्योंकि भवन-संरचना एक अत्यन्त तकनीकी कार्य है। न काम करने वाले, उच्च वर्ग को सम्भवतः रातोंरात, बढ़ई या कारीगर, अथवा लुहार अथवा शिल्पकार या ओवरसियर के रूप में कार्य नहीं मिल सकता था। उनको तो एक साधारण मजदूर की भाँति कार्य कर पाना भी असम्भव ही प्रतीत हुआ होगा क्योंकि दिन-भर की थकान उनकी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सहनशक्ति से परे की बात होती। अन्य बेहूदगी यह कहना है कि उनकी मजदूरी का भुगतान रात्रि को किया जाता था। यह तो कोई परी कथा जान पड़ती है, न कि किसी इंजीनियरी परियोजना का नित्य-नियमित लेखा-विवरण । यदि गणमान्य व्यक्ति दिन में सभी लोगों के सामने ही मजदूरी करते रहे, तो फिर उनसे इस आशा का कोई अर्थ नहीं कि वे अपनी मजदूरी प्राप्त करने के लिए रात्रि को भेष बदलकर आया करते थे। और यदि वे अपना सारा दिन मजदूरी करने में और रात्रि

मजदूरी का वेतन प्राप्त करने के लिए पंक्तिबद्ध खड़े रहने में बिता देते थे, तो वे कैसे और कब सोते थे? यदि वे सोते नहीं थे, रात्रि में अथवा दिन में, तो वे काम कितने दिन तक कर सकने की हिम्मत रखते थे? साथ ही, हमको यह भी तो नहीं बताया जाता कि वास्तव में उनको मजदूरी कितनी दी गई थी। इतनी भीषण विपदा की हालत में तो मजदूरी के रूप में भुगतान किया गया धन एक अति महत्त्वपूर्ण, रोचक और संगत विवरण होगा। किन्तु स्पष्ट है कि मुस्लिम कपट-जाल रचने वालों ने इस प्रकार की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल की कभी कल्पना ही नहीं की थी। एक अन्य असंगति यह है कि इमामबाड़ा जैसी परियोजना में तो हजारों व्यक्तियों की नियुक्ति हुई होगी। क्या वे गणमान्य व्यक्ति आशा कर सकते थे कि इतनी विशाल संख्या में भी उनकी वास्तविकता इस प्रकार छिपी रह सकती थी कि वे रात्रि के समय अपनी मजदूरी लुक-छिपकर प्राप्त कर सकें। यदि आशय यह है कि काम केवल रात्रि के समय ही चला करता था, और दिन के समय वहाँ सुनसान हो जाया करता था, तो इस बात को कहने में कोई तत्त्व नहीं है कि मजदूरी रात्रि को प्राप्त की जाती थी। मजदूरी का भुगतान तो स्वाभाविक रूप में ही प्रत्येक काम की पाली के अन्त में किया जाता। और जहाँ कहीं मजदूर लोग रात्रि को काम करते है, वहाँ उनके वेतन का भुगतान प्रातः भोर-काल में ही किया जाता है। इस प्रकार, यदि गणमान्य व्यक्तियों ने रात्रि को भी काम किया होता, तो भी वे बिना पहचाने नहीं रह सकते थे क्योंकि उस विशाल कार्य में हजारों लोग लगे हुए होंगे। रात्रि में निर्माण-कार्य भी तेज रोशनी में ही होता होगा। इन परिस्थितियों में कोई व्यक्ति कैसे आशा कर सकता है कि वह महीनों तक अथवा पूरे वर्ष के अन्त तक बिना पहचान में आए ही, छद्म रूप में काम करता रहेगा?

अतः यह स्पष्ट है कि इस झूठी कथा के आविष्कारिक मुस्लिमों ने इसको रहस्य के पर्दे में लपेट दिया ताकि इतिहासकारों को भुलावा दिया जा सके कि वे इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न न पूछकर इस कथा को ज्यों-का-त्यों सत्य स्वीकार कर लें। भारत में मुस्लिम युगीन सम्पूर्ण इतिहास को ऐसे ही कपट-रहस्य ने व्याप्त किया हुआ है। जिससे विवश होकर ही सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर एच० एम० इलियट को घोषित करना पड़ा था कि 'यह इतिहास एक निर्लज्जतापूर्ण और जान-बूझकर किया गया धोखा है'।

फॉरेस्ट हमें आगे बताता है कि नवाब ने सभी वास्तुकलाकारों से कहा कि

वे एक प्रतियोगिता प्रस्तुत करें। यदि ऐसा है, तो नवाब ने भवन-योजनाओं के ऐसे सैकड़ों प्रारूप प्राप्त किए होंगे। यदि यह बात है, तो क्या आसफ़उद्दौला के दरबारी कागज़-पत्रों में ऐसा एक भी प्रतियोगात्मक मानचित्र प्राप्य है, क्योंकि नवाब के पास तो बहुत सारे आए होंगे? हमें यह भी नहीं बताया जाता कि प्रतियोगिता की घोषणा किस प्रकार की गई थी? क्या इसकी घोषणा नगाड़े बजाकर की गई थी अथवा हाथ के लिखे पर्चे बाँटे गये थे? सम्पूर्ण कहानी में एक अति महत्त्वपूर्ण विवरण विलुप्त है और वह यह कि नवाब वास्तव में क्या बनाना चाहता था? जब तक कि वास्तुकलाकारों को यह न बता दिया जाए कि भवन का निर्माण किस प्रयोजन से किया जाना है, भू-खण्ड की लम्बाई-चौड़ाई कितनी है, कौन-सी सामग्री प्रयोग करनी है, तथा कुल धन-राशि कितनी है जो व्यय करनी है तब तक कोई वास्तुकलाकार अपना बनाया मानचित्र किस प्रकार प्रस्तुत कर सकता है? यदि प्रतियोगिता में सम्मिलित होने वाले सभी प्रतियोगियों को ये सब विवरण दिए गए थे, तो उस सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार का कुछ-न-कुछ अंश तो नवाब आसफ़ उद्दौला के दरबारी प्रलेखों में उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु स्पष्टतः ऐसा कोई अभिलेख प्राप्य नहीं है। हमें यह सूचना भी नहीं है कि नवाब ने यदि कोई निविदा मँगाई थी, तो वह मकबरे के लिए थी, अथवा राजमहल, अथवा भवन, अथवा बाजार, अथवा मस्जिद, अथवा सराय, अथवा ताजियों के कारखाने के लिए थी? केवल यह कहना कि 'मेरे लिए विश्व का अनुपम, अद्भुत भवन बना दो' परियों की कहानी में तो आह्लादकारी हो सकता है, किन्तु गम्भीर इतिहास में ऐसी बेहूदगियों के लिए कोई स्थान नहीं है।

हमें तो उन लोगों में से कुछ थोड़े-से (लोगों के) नाम भी नमूने के तौर पर नहीं बताए जाते जिन्होंने तथाकथित इमामबाड़े के लिए अपनी निर्माण-योजनाएँ प्रस्तुत की होंगी।

हमें यह विश्वास करने को भी कहा जाता है कि इमामबाड़े में "विशाल अलंकरण और साज-सजावट" थी। यदि वह वास्तव में थी, तो हम पूछते हैं कि वह समाप्त, विलुप्त कैसे हो गयी? ब्रिटिश कम्पनी द्वारा नवाबी पर अधिकार होने तक तो इमामबाड़ा नवाब के अपने वंशजों के आधिपत्य में ही रहा है। यह प्रदर्शित करने के लिए कोई अभिलेख अथवा स्पष्टीकरण नहीं है कि वह साज-सज्जा किसने हटायी, और कब व क्यों हटायी? प्रत्यक्षः स्पष्टीकरण यह है

कि चूंकि इमामबाड़ा एक पूर्वकालिक, प्राचीन हिन्दू राजमहल है, इसलिए इसमें हिन्दू साज-सजावट, अलंकरण था। अपने राजमहलों की दीवारों और छतों को अद्वितीय चित्रकारी, रंग-रोगन और आकृति-निरूपण से सुसज्जित, सुशोभित करने के लिए हिन्दू लोग विख्यात हैं। मुस्लिम अभिलेख स्वीकार करते हैं कि इमामबाड़े में ऐसी साज-सजावट और अलंकृति थी, किन्तु वे यह बता पाने में असमर्थ हैं कि कब और कैसे यह सब लुप्त हो गया? हमारा स्पष्टीकरण है कि इमामबाड़ों के शेखजादों से लेकर आगे के सभी मुस्लिम आधिपत्यकर्त्ताओं ने हिन्दू रंग-रोगन और लक्षणों को मिटा दिया है क्योंकि इस्लामी धर्मान्धता इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। हिन्दू अलंकृति मुस्लिमों की आँखों में तेज, नुकीले काँटे की तरह चुभती थी। किसी आधुनिक लेखक ने विवरण नहीं दिया कि वह साज-सजावट क्या थी? उनको किसी ने भी देखा प्रतीत नहीं होता यद्यपि उन सभी ने यह सुना है कि वे अलंकरण-वस्तुएँ अतीतकाल में विद्यमान थीं।

श्री फॉरेस्ट का कहना है कि इमामबाड़े का काल्पनिक निर्माता स्वयं भी इसी भवन में दफ़नाया पड़ा हुआ है। हमें आश्चर्य है कि नवाब-निर्माता स्वयं भी उसी शानदार, विशाल भवन में दफ़नाया पड़ा है जिसे स्वयं उसी द्वारा बनवाया कहा जाता है। कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि उसने इसका निर्माण अपने मक़बरे के रूप में ही करवाया था। फिर वह इसमें क्यों दफ़नाया गया होना चाहिए? साथ ही, इमामबाड़े में उसका दफ़नाया जाना भी एक मुस्लिम-कपटजाल हो सकता है क्योंकि उसके दफ़नाए जाने के प्रमाण-स्वरूप कोई कब्र वहाँ विद्यमान नहीं है। कुछ निठल्ले मुस्लिमों का एक वर्ग इमामबाड़े के निम्न-तलीय महाकक्ष में जमघट लगाकर, सिकुड़े बैठे रहते हैं। उस स्थान पर एक दरी फैला रखी है और एक जँगला इसके चारों ओर लगा रखा है जिसे अन्यत्र ले जाया जा सकता है। जो कुछ पता पड़ता है, वह यह है कि भवन की देखभाल करने वाले दर्शकों को यह विश्वास दिलाकर उल्लू बनाया जाता हो कि वहाँ कोई दफ़नाया पड़ा है। दफ़न किए गए व्यक्ति के रूप में आसफ़ उद्दौला का नाम उन्हें हस्तगत हुआ होगा क्योंकि इमामबाड़े के काल्पनिक निर्माता के रूप में उसका नाम भी प्रस्तुत किया जाता है। दफ़नाने की कथा परवर्ती नवाबों द्वारा रहस्यमय ढंग से गढ ली गई भी हो सकती है मात्र इसलिए कि उस भवन को सार्वजनिक उपयोग हेतु अपने अधिकार में ले लेने के लिए ब्रिटिश कर्मचारियों को दूर रखा जा सके। जब

प्रश्न किया जाता है कि वहां कोई कब्र क्यों नहीं है, तब देखभाल करनेवाले मुस्लिम व्यक्ति आग्रहपूर्वक बताते हैं कि आसफ़उद्दौला तलघर में दफ़नाया पड़ा हुआ है, इसलिए निम्न-तलघर उक्त स्थान को कब्र (मजार) से चिह्नित नहीं किया गया है। स्पष्ट है कि यह तर्क भ्रामक है क्योंकि दिल्ली में तथाकथित सफ़दरजंग और हुमायूं के मकबरे तथा आगरा में ताजमहल जैसे अन्य भवनों में सबसे निचली मंजिल में वास्तविक कब्रें और उससे ऊपर के भाग में मजारें भी बनी हुई कही जाती हैं। अतः, सीधा प्रश्न अब यह है कि उसी प्रकार की एक मज़ार इमामबाड़े के निम्न-तल पर क्यों नहीं मिलती? हमारा अनुमान यह है कि दफ़नाए जाने की असत्य कथा के प्रचारकों के पास इतना समय, धन अथवा हृदय नहीं था कि वे इमामबाड़े में एक झूठी, जाली मज़ार बना पाते। अतः उन्होंने मात्र इतने से ही सन्तोष कर लिया कि चारों तरफ तो जोरदार अफ़वाह फैली दी और उस स्थान पर दरी बिछा दी। तलघर में आसफ़उद्दौला की काल्पनिक कब्र की अति-रहस्यमय गाथा, इस तथ्य से और भी पेचीदा हो जाती है कि वह अवात मुद्रित है, रहस्यमय रूप से बन्द है। अतः, इस बात को जान पाने का कोई मार्ग नहीं है कि वहाँ सचमुच आसफ़उद्दौला ही दफ़नाया हुआ पड़ा है, अथवा जिसको आज उसकी कब्र अनुमान किया जाता है उसमे कोई खजाना या हिन्दू देव-प्रतिमाएँ और संस्कृत शिलालेख छिपा दिए गए हैं। इमामबाड़ों के तलघर खोले जाने चाहिएँ और उनकी सूक्ष्म पुरातत्त्वीय जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए। बड़े और छोटे, दोनों ही इमामबाड़ों के तलघरों की लम्बाई-चौड़ाई अवश्य ही बहुत विशाल होगी। तलघरों में बड़े-बड़े कक्षों और बीसियों कमरों का स्पष्टीकरण मृतक नवाबों के प्रेतों की धमा-चौकड़ी वाले कमरों के रूप में नहीं किया जा सकता। सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि मुस्लिम कपट-कथाओं की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल करने में श्री फॉरेस्ट जैसे लेखक अपने कर्त्तव्य का पालन करने में विफल रहे हैं।

भारत सरकार का पुरातत्त्व-सर्वेक्षण विभाग भी विश्वास करता है कि "बड़ा इमामबाड़ा सन् १७८४ ई० में किफ़ायत उल्लाह नामक वास्तुकलाकार की योजना के अनुसार आसफ़उद्दौला द्वारा बनवाया गया था, और उसकी मृत्यु हो जाने पर उसे उसी में दफ़ना दिया गया था।"[२] इस पुस्तक में भी किसी प्राधिकारी का उद्धरण नहीं दिया गया है। इसमें हमें यह भी नहीं बताया गया है कि

किफ़ायत उल्लाह था कौन? यदि किफ़ायत उल्लाह वास्तुकलाकार था तो वह मानचित्र कहाँ है जिसको उसने बनाया था—ऐसा विश्वास किया जाता है ? वह लखनऊ में अथवा अन्यत्र कहाँ रह रहा था? उसका वेतन कितना था? और इमामबाड़ा बनने में कितने वर्ष लगे थे? उस भवन के निर्माण का प्रयोजन क्या था? खेद की बात है कि ऊपर जिस पद्धति का संकेत हमने किया था, उस प्रकार से किसी भी विद्वान ने इस समस्या की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल करने का विचार ही नहीं किया। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो अभी तक इस इमामबाड़े की कथा का घोटाला कभी का पता कर लिया होता। इसलिए, इतिहास के विधिवेत्ताओं ने प्रत्येक ऐतिहासिक मामले की वकील-सदृश पूछ-ताछ और अत्यन्त सूक्ष्म तर्क-पद्धति का अनुसरण करने का आग्रह किया है।चूँकि भारत सन् ७१२ से १९४७ ई० तक विदेशी शासन का गुलाम रहा है, इसलिए भारतीय इतिहासकारों ने यह स्वभाव बना लिया है कि प्रशासन द्वारा जो कुछ भी दिया जाए, उसे बिना किसी शंका, प्रश्न अथवा हील-हुज्जत के ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया जाए। इसके सभी निष्कर्षों को शिरोधार्य कर लिया जाए। इस निरुद्योगी वृत्ति का अब, इसी क्षण से परित्याग कर देना होगा।

प्रसंगवश, यह भी कह दिया जाए कि पुरातत्त्व विभाग ने चुप रहकर मुहम्मद फैजबख्श की उपेक्षा कर दी है जिसने झूठ ही अंकित कर दिया है कि यह सन् १७९१ ई० का वर्ष ही था जब इमामबाड़ा ''पूरा'' हुआ था, चाहे इसका जो भी अर्थ हो।

भारत सरकार के एक अन्य प्रकाशन में भी, बिना किसी प्राधिकारी का उल्लेख किये ही, उद्धृत किया गया है कि ''यह भवन सन् १७८४ ई० में अकाल-पीड़ित जनता को कुछ राहत देने के लिए बनवाया गया था। कहा जाता है कि नगर के बहुत सारे संभ्रान्त निवासी अभाव के कारण अपने आपको कारीगरों में सम्मिलित कर पाने को विवश हो गए थे, और उनकी इज्जत बचाने तथा उनके (नाम) अज्ञात रखने के लिए उनके नाम छुपाकर रखे गए थे, और उनकी मजदूरी का भुगतान हमेशा रात्रि के समय ही किया गया था।''[3]

अकाल से राहत दिलानेवाली परियोजना के रूप में इमामबाड़ा बनाने की

---

२. भारत का पुरातत्त्व सर्वेक्षण, खण्ड XII, पृष्ठ २६६।
३. अवध प्रान्त का गजिटियर, खण्ड II, पृष्ठ ३६७।

कहानी को बारम्बार दोहराए जाने को देखकर हमें आश्चर्य होता है। इसमें अधिक दुःख की बात यह है कि बिना सत्यापित किए ही, गज़िटियर जैसे सरकारी प्रकाशनों में भी अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्वर में इसी बात को दुहराया गया है। सम्भवतः गजिटियर के संकलनकर्त्ताओं ने सोचा होगा कि चूँकि इस कहानी का सम्बन्ध पूर्वकालिक नवाब आसफउद्दौला से था, इसलिए इसे तो सत्य मान ही लिया जाना चाहिए। यह स्पष्ट प्रदर्शित करता है कि सत्य अनुसंधान-कार्य बिल्कुल भी नहीं किया गया है, और भारतीय इतिहास के रूप में आज जो भी प्रस्तुत किया जा रहा है, वह आँग्ल-मुस्लिम झूठों और कपोल-कल्पनाओं की भारी, रद्दी ढेरी मात्र रह गया है।

हुसैनाबादी इमामबाड़े के रूप में विख्यात अन्य इमामबाड़े के बारे में कहा जाता है कि ''नसीरुद्दीन हैदर (सन् १८३७ ई०) के चाचा मुहम्मद अलीशाह ने स्वयं को दफ़न करने के लिए शानदार हुसैनाबादी इमामबाड़ा बनवाया था।''[4] एक मुस्लिम शासक के बाद दूसरे शासक द्वारा स्वयं को दफ़नाने के लिए उपयुक्त स्थान-स्वरूप एक मकबरा बनवाने का यह झूठा दावा इस्लामी शासन के इतिहास में बहुत बार दोहराया गया है। भारत में सभी मुस्लिम शासक पूर्वकालिक हिन्दू भवनों में दफ़नाए पड़े हैं। किन्तु इस सत्य को स्वीकार करने में अपनी हेठी समझने के कारण मुस्लिम चापलूसों ने सामान्यतः एक मृत शासक के मकबरे का निर्माण-श्रेय उसके उत्तराधिकारी को दे दिया। जहाँ कहीं किसी उत्तराधिकारी को मकबरे का निर्माण-श्रेय नहीं दिया जा सका, वहाँ मुस्लिम दन्तकथाओं में शासकों को यह निर्माण-श्रेय दे दिया गया कि उस व्यक्ति ने अपने जीवन-काल में ही अपना मकबरा बनवा लिया था। हुसैनाबादी इमामबाड़ा भी एक ऐसा ही भवन है। किसी भी व्यक्ति ने प्रत्यक्षतः इस पर प्रश्न-प्रतिप्रश्न , पूछताछ नहीं की है। यदि मुहम्मद अलीशाह ने इसे अपने ही मकबरे के रूप में बनवाया था, तो यह भवन 'हुसैनाबादी इमामबाड़ा' क्यों कहलाता था? और इसके प्रलेख , दस्तावेज कहाँ हैं? इस पर कितना धन खर्च हुआ? इसका वास्तु-कलाकार कौन था, और उसने इस भवन के लिए जो मानचित्र बनवाए थे, वे कहाँ हैं? साथ ही, जिसे आज हुसैनाबादी इमामबाड़ा कहा जाता है वह एक भवन न होकर उन अनेक भवनों का

---

४. अवध प्रान्त का गजिटियर, खण्ड II, पृष्ठ ३७२।

एक संकुल, समूह है जिसके भीतर अनेक निरर्थक कब्रें ठसाठस भरी पड़ी हैं। मुस्लिम शासक इतने बुद्धू और बेवकूफ़ व्यक्ति नहीं थे जो लूटे हुए हिन्दू धन को मात्र हर किसी का मकबरा बनवाने पर खर्च करते। इन भवनों में इधर-उधर बनी हुई अनाम कब्रें उन मुस्लिम हत्यारों की हैं जिनको हिन्दू रक्षकों ने तलवार के घाट उतार दिया था। उन भवनों में एकमात्र मुस्लिम योगदान उस इस्लामी सफ़ेदी की अनेक परतें हैं जिनके नीचे उन भवनों पर सुशोभित हिन्दू साज-सजावट छुपी पड़ी है, अथवा उसे विद्रूप कर दिया गया है। अतिरिक्त प्रमाण के रूप में हम अगले अध्याय में उन हिन्दू अंगीभूत लक्षणों का उल्लेख भी करेंगे जो उन दोनों इमामबाड़ों की परिसीमा में अभी भी विद्यमान हैं।

उसी मुहम्मद अलीशाह के बारे में कहा जाता है कि उसने ''सड़क के किनारे एक शानदार तालाब बनवाया था और इमामबाड़ा से थोड़ी दूरी पर एक मस्जिद बनवानी शुरू की थी जिसके बारे में उसकी अभिलाषा थी कि दिल्ली की जामा-मस्जिद से भी बड़ी हो''यह अभी भी अधूरी बनी खड़ी है''उसने सतखण्डा, एक स्तम्भ भी शुरू किया,'' किन्तु वह भी पूरा किए बिना ही छोड़ दिया गया था।

आंग्ल-मुस्लिम ग्रन्थों के पाठों का अध्ययन करने में इतिहास के विद्यार्थियों को अत्यधिक सावधान, जागरूक होने की आवश्यकता है। ऊपर दिए गए अवतरण की सूक्ष्म समीक्षा करते हुए पाठक यह भी विचार कर सकता है कि क्या कोई ऐसा मुस्लिम शासक हो सकता था जो अपनी मृत्यु के पूर्व ही अपनी कब्र के लिए मकबरा बनवाए; एक तालाब, एक मस्जिद और एक निगरानी-स्तम्भ भी बनवाए, किन्तु अपने या अपनी बेगमों अथवा बच्चों के लिए भी एक महल या भवन नहीं बनवाए? क्या वह अपने बनवाए स्तम्भ को संस्कृत का दिव्य-नाम सतखण्डा अर्थात 'सप्त-खण्ड' देता? जिन भवनों को मुस्लिम शासकों द्वारा अधूरा बनवाकर छोड़ दिया गया कहा जाता है, वे तो वे पूर्वकालिक हिन्दू भवन हैं जो हथियाए जाने के समय मुस्लिम गोला-बारूद से नष्ट हो गए अथवा अधिकार में आ जाने के बाद मूर्तिभंजक इस्लामी धार्मिक उन्माद में तोड़े-फोड़े गए हैं। इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को ''अपूर्ण'' भवनों के बारम्बार दुहराए गए इस मुस्लिम झूठ से सतर्क, सावधान रहना है। विजित और ध्वस्त, क्षतिग्रस्त हिन्दू भवनों के लिए यह एक मुस्लिम शाब्दिक कपटजाल है।

जहाँ तक सप्त-खण्ड की बात है, वह सात-मंजिला एक स्तम्भ है। पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दुओं के लिए सामान्य बात थी कि वे अपने राजमहलों और स्तम्भों को सात-सात मंजिला बनवाएँ। इस प्रकार, जिस स्तम्भ का निर्माण-श्रेय मुहम्मद अलीशाह को दिया जाता है, वह एक पूर्वकालिक हिन्दू स्तम्भ है।

तथाकथित बड़ा इमामबाड़ा बनवाने में खर्च हुई लागत के बारे में एक गज़िटियर लिखता है: ''आसफ़उद्दौला ने इमामबाड़े पर दस लाख रु० खर्च किए।''[५] चूँकि गज़िटियर में किसी प्राधिकरण को उद्धृत नहीं किया गया है, इसलिए स्पष्ट है कि इसमें एक मुस्लिम-पाखण्ड का उल्लेख मात्र ही कर दिया गया है। लागत की यह काल्पनिक संख्या हमारे इस निष्कर्ष की ओर ही इंगित करती है कि सम्पूर्ण इमामबाड़ा-कथा ही सरासर झूठ है—अन्य कुछ नहीं।

सरकारी गज़िटियर जिस अति आकस्मिक, भावुक, रूखे और अनुत्तरदायी ढंग से संकलित किए गए हैं उसको सिद्ध करने के लिए हम पुनः उस लखनऊ गज़िटियर का उद्धरण प्रस्तुत करेंगे जिसमें पृष्ठ १५६ पर लिखा है:'' (अवध के अन्तिम मुस्लिम शासक) वाजिद अलीशाह की ३६० रखैलें थीं जिनमें से प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् एक-एक कमरा था।'' हम इस वक्तव्य को चुनौती देते हैं। कोई भी व्यक्ति हमें लखनऊ में ऐसा ऐतिहासिक स्थल बता दे जहाँ ३६० कमरों की एक श्रृंखला परिवेष्ठित है। इसके विपरीत, हम पाठक को सूचित करना चाहते हैं कि मुस्लिम दरबारों के चाटुकार वेश्याओं की संख्या सदैव बढ़ा-चढ़ाकर बताते थे क्योंकि वे इसको मुस्लिम शासक के उच्चस्तर के लिए आवश्यक, शोभनीय समझते थे। यह असत्य, काल्पनिक संख्या जितनी अधिक होती थी, उतनी ही अधिक सामर्थ्य उस मुस्लिम शासक की समझी जाती थी। मुस्लिम दरबार के चापलूस लोग बड़ी शान से कहते फिरते थे कि प्रत्येक वेश्या को पृथक्-पृथक् कमरा दे रखा था। यह पुरानी बात ही है। अबुल फ़ज़ल ने भी अपने कुख्यात तिथिवृत्त 'आईने-अकबरी' में लिखा है कि अकबर की ५,००० से ऊपर वेश्याएँ (रखैलें) थीं और उसका एक विशाल भवन संकुल था जिसमें वे सभी ५,००० महिलाएँ पृथक् स्वतंत्र कमरों में रखी गई थीं। दरबारी चाटुकारों द्वारा ऐसे

५. अवध प्रान्त का गज़िटियर

कपट-जाल प्रस्तुत किए जाने तो ठीक है, किन्तु इतिहास के विद्यार्थियों को यह शोभा नहीं देता कि वे इन झूठी बातों पर ज्यों-का-त्यों विश्वास स्थापित कर लें और उनकी सच्चाई जानने का भी प्रयत्न न करें।

फ़र्ग्युर्सन भी विश्वास करता है—"बड़ा इमामबाड़ा, चौथे नवाब आसफ़उद्दौला द्वारा सन् १७८४ ई० के अकाल के समय राहत-कार्य के रूप में बनवाया गया था।"[६] फ़र्ग्युर्सन उपर्युक्त कथन के समर्थन में किसी प्राधिकरण का उल्लेख नहीं करता है। हम इसीलिए, इतिहास और वास्तुकला के सभी विद्यार्थियों को सावधान करना चाहते हैं कि वे फ़र्ग्युर्सन में कोई विश्वास स्थापित न करें। वह अति लापरवाह और अविश्वसनीय व्यक्ति है जो बिना समझे-बूझे ही रूढ़िवादी निष्कर्षों पर पहुँच गया है। हम फ़र्ग्युर्सन की रचनाओं के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उसने और परसी ब्राउन दोनों ने मिलकर हथियाए गए हिन्दू भवनों को भ्रमवश मुस्लिम भवन कहकर और हिन्दू वास्तुकला की व्याख्या जिहादी अथवा भारतीय-जिहादी कला के भ्रामक रूप में करके, इतिहास और वास्तुकला के सभी विद्वानों को दिग्भ्रमित कर दिया है। भारतीय इतिहास और हिन्दू वास्तुकला के सत्य ज्ञान को हृदयंगम करने के लिए सभी विद्यार्थियों को इन दोनों पश्चिमी विद्वानों की रचनाओं का अध्ययन करते समय विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

एक अन्य पश्चिमी लेखक कीन ने लिखा है—"सन् १७८४ ई० वाले वर्ष में एक भयंकर अकाल पड़ा इस पर नवाब आसफ़उद्दौला ने संकल्प किया कि बाहरी राहत के उपाय के रूप में उस काम को शुरू किया जाय, और यह कहा जाता है कि इसको पूरा करने से पहले ही दस लाख से अधिक स्टर्लिंग खर्च कर दिया गया था। क़ैफ़ियत उल्लाह वही वास्तुकलाकार बताया जाता है जिसके नमूने स्वीकार किए गए थे। परम्परा का कहना है कि अभी तक के अनेक समृद्ध, अमीर नागरिकों में से बहुत सारे लोग इतने अभाव-ग्रस्त हो गये थे कि वे विवश होकर अधिक अनुभवी कारीगरों के साथ गारा-चूना का पलस्तर तसलों, टोकरियों में ढोने का काम करने लगे थे। इस पदावनति, शोचनीय-स्थिति और लज्जा से उनको छुटकारा दिलाने के लिए नवाब ने बहुत सोच-विचार के बाद अनुमति दे

---

६. भारतीय और पूर्वी वास्तुकला का इतिहास, खण्ड II, पृष्ठ ३२८।

दी कि इन विश्राम-प्रिय नौसिखियों की मज़दूरी रात्रि के समय भुगतान की जाए। इस प्रकार कहानी आगे चलती रहती है।"[७]

यदि कीन ने अपने लिखे हुए प्रत्येक शब्द के निहितार्थ की सूक्ष्म समीक्षा करने की तनिक भी परवाह की होती, तो उसने परम्परागत मुस्लिम वर्णन में अन्तर्लिप्त कपट-जाल को तुरन्त देख लिया होता। वह इस तथ्य के प्रति सचेत है कि वह मात्र सुनी-सुनायी बात को ही उद्धृत कर रहा है—यही कारण है कि वह अपने प्रत्येक वाक्यांश के साथ "यह कहा जाता है", "परम्परा का कहना है", "इस प्रकार की कहानी आगे चलती रहती है" आदि-आदि जोड़ता रहता है। वास्तुकलाकार का 'क़िफ़ायत उल्लाह' उपनाम 'कैफ़ियत उल्लाह' नाम भी एक काल्पनिक नाम ही है। यदि उसे सचमुच ही इमामबाड़ा बनाने का आदेश दिया गया होता, तो इमामबाड़े से सम्बन्धित अनेक दस्तावेजों पर उसका नाम प्राप्त हो जाता। किन्तु इमामबाड़े से सम्बन्धित कोई भी दस्तावेज़ नहीं है। परिणामस्वरूप, क़िफ़ायत उल्लाह का नाम कहीं भी अंकित नहीं मिलता।

जहाँ तक लागत का प्रश्न है, हमें सदैव यही विश्वास करने को कहा जाता रहा है कि यह लगभग दस लाख रुपया रही है। अब, कीन ने अचानक ही इसकी कल्पना दस लाख स्टर्लिंग अर्थात् लगभग डेढ़ करोड़ रुपया कर ली है। पहली संख्या की भाँति ही यह संख्या भी पूरी तरह काल्पनिक ही है। यदि इमामबाड़ा वास्तव में नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया होता, तो अनुमान-कल्पना करने की कोई गुंजाइश ही न रहती। कुल खर्चा अभिलेख की एकमात्र वस्तु रह जाती—एक तथ्य अंकित हो जाता। हमें आश्चर्य इस बात पर होता है कि यद्यपि लखनऊ के नवाबों के दरबार में स्थित ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा चौबीसों घण्टे, रात-दिन निगरानी रखी जाती थी और नवाब व ब्रिटिश अधिकारियों के मध्य लगातार तू-तू, मैं-मैं की तक़रार की जड़ एक विशाल ऋण-राशि थी, फिर भी इमामबाड़े का यथार्थ निर्माण और उससे सम्बन्धित यह विशाल लागत की राशि तत्कालीन दरबारी दस्तावेज़ों में उल्लिखित क्यों नहीं है। हमें इतने अधिक ब्रिटिश विद्वानों की विशिष्ट उदासीनता और अरुचि पर भी आश्चर्य होता है जिन्होंने मुस्लिम-झूठी बातों को नवाब के

---

७. दिल्ली-लखनऊ आदि के दर्शकों के लिए कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६८।

दरबार में स्थित स्वकीय कर्मचारियों की टिप्पणियों से भी सत्यापित करने की बात कभी नहीं सोची।

अन्य लेखकों की ही भाँति कीन भी उस समय अत्यन्त सरल, सीधा-सादा सिद्ध हुआ है जब वह लखनऊ के अकाल-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति नवाब आसफ़उद्दौला की चिन्ता की सर्वप्रथम चर्चा करता है, और फिर निम्नवर्गीय कार्य करने में उनकी हेठी के कारण लज्जा से उनकी रक्षा करने के बारे में उनकी भावुकता की बात करता है। आसफ़उद्दौला के स्वभाव और उसकी वृत्तियों पर हम पर्याप्त प्रकाश पाठकों को यह समझाने के लिए पहले ही डाल चुके है कि वह अपनी प्रजा की पीड़ाओं, यन्त्रणाओं से दुःखी, द्रवित होने वाला अंतिम व्यक्ति था—उसे कोई दुःख नहीं हो सकता था। दूसरी बात यह है कि वह अपने व्यभिचारी सुखोपभोग में इतना आकण्ठ लिप्त रहता था कि वह यह जान ही नहीं सकता था कि किसी समय कहीं पर भी अकाल पड़ा हुआ था। साथ ही, वह एक क्रूर-सम्भोगी भी था। अपनी प्रजा की भावनाओं या उनकी शारीरिक सुविधाओं का कोई ध्यान रखने की बजाय वह तो उनको असुविधा में डालने एवं उनको निरादरित करने में असीम सुख का अनुभव करता था। अपनी भाव-विकृति में ही वह विश्वास करता था कि वह सामान्य लोगों पर जितनी विपदाएँ ढाएगा और उनका जितना तिरस्कार करेगा, उसकी खुशी उतनी ही अधिक होगी और उसका स्तर भी, तुलनात्मक रूप में, उतना ही ऊँचा होगा। इस तथ्य का सविस्तार वर्णन आसफ़उद्दौला से सम्बन्धित अध्याय में किया ही जा चुका है। उदाहरण के रूप में कहा जाय तो स्मरण रखने वाली बात यह है कि उसने साग्रह कहा था कि लखनऊ कि पीड़ाकारी भीषण गर्मी के दिनों में भी आसफ़उद्दौला की आवश्यकता के अनुरूप मात्र ही बर्फ़ का निर्माण किया जाए और उसके राज्य की शेष जनता को तो शीतल पेय और खाद्य व्यंजनों से वंचित ही रहना पड़ेगा।

कौन इस महाकक्ष का आकार १६७ x ५२ फीट वर्णन करता है जिसकी ऊँचाई ६३ फीट तक थी। दीवारें १६ फीट मोटी है। क्या ऐसा बड़ा कमरा किसी बौने नवाब को दफ़नाने के लिए जरूरी है? क्या एक दिवालिया नवाब का खाली कोषागार ऐसी भयंकर फ़िजूलखर्जी कर सकता है, और उसको बनाए भी रख सकता है?

"इस विशाल चतुष्कोण के दायीं ओर एक मस्जिद दिखाई देगी जिसकी

बड़ी ऊँची मीनारें है। यह मस्जिद मूल नमूने का एक भाग है, और इसके नमूने में चार चाँद लगा देती है।"[८]

यह कोई संयोगमात्र ही नहीं कि दोनों तथाकथित बड़े और छोटे इमामबाड़े भवन-संकुल हैं जिनमें पृथक्-पृथक् तीन-तीन भवन हैं। बड़े इमामबाड़े में जैसे ही कोई व्यक्ति मुख्य द्वार से प्रवेश करता है, त्योंही उसके बायीं ओर बावली महल अर्थात् एक केन्द्रीय कूप के चारों ओर बना भवन सम्मुख आता है। व्यक्ति के दायीं ओर तथाकथित मस्जिद है और सामने बड़ा इमामबाड़ा है। इन सभी तीनों भवनों का एक सम्पृक्त अस्तित्त्व है। यह तर्क देना बेहूदी बात है कि किसी व्यक्ति ने बावली महल बनाया था और फिर कुछ वर्षों बाद आसफ़उद्दौला ने इमामबाड़े को बनाने का आदेश दिया था। इस तथाकथित मस्जिद को किसने और कब बनवाया था, मात्र अल्लाह ही जानता है। उनकी एक सम्पृक्त योजना का ही एक अंश होना इस बात से सिद्ध होता है कि एक दीवार है जिसके भीतर यह सम्पूर्ण भवन-समूह परिवेष्ठित है। उस दिवार में स्वयं भी दु-मंजिले कमरे बने हुए हैं। मनगढ़न्त इस्लामी वर्णन में भी केवल इमामबाड़े के निर्माण की ही बात कही जाती है; हमें यह नहीं बताया जाता कि बावली महल और तथाकथित मस्जिद तथा निरर्थक कमरों और बहुत ऊँचे द्वारों में पश्चिम की ओर तथाकथित रूमी दरवाज़ा अर्थात् राम-द्वार और इमामबाड़ा-महाकक्ष के सामने मध्य-द्वार—दक्षिण की ओर मुख किए हैं। यदि इमामबाड़ा मुस्लिम संरचना होती, तो इसका मुख्यद्वार दक्षिणाभिमुख न होता। साथ ही, इमामबाड़े की ओर मुख किए विशाल, दुमंजिला नक्कार-खाना न होता। यह तो निश्चित बात है कि नवाब पर भारी कर्ज़ की वापसी के लिए साग्रह माँग का उत्तेजनाकारी ब्रिटिश संगीत आजीवन सुनने के बाद भी अपने मृत-कक्ष में मृत आसफ़उद्दौला ने अपना मन बहलाने के लिए हिन्दू संगीत सुनना पसन्द नहीं किया होगा। नक्कारखाना, एक इस्लामी मकबरे अथवा विलक्षण इमामबाड़े में, कभी भी आनुषंगिक भाग नहीं होता। यदि इमामबाड़ा ताज़ियों का निर्माण-स्थल समझा जाता है, तो उसके निर्माण में संलग्न कारीगरों का मन बहलाने के लिए हिन्दू-संगीत की आवश्यकता नहीं है। साथ ही नक्कारख़ाना तो मस्जिद के लिए प्रतिकूल और चिढ़ाने, क्रोधित करने वाली वस्तु

---

८. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६९।

है। इस चर्चा से यह स्पष्ट है कि जिस भवन को एक मस्जिद के रूप में वर्णित किया जा रहा है, वह रामायणकालीन युग का एक पवित्र हिन्दू मन्दिर है। मात्र हिन्दू मन्दिरों और राजभवनों में ही संलग्न नक्कारखाने, नगाड़खाने होते हैं। मस्जिद का मूलखण्ड-सदृश शिखर पूरी-पूरी तरह हिन्दू मन्दिर के नमूने का है। इसका विशाल आकार, एक लम्बा तलघर और निम्न-तल के ऊपर दो-मंजिलें किसी भी मस्जिद के लिए अविचारणीय हैं। इससे भी अधिक नेत्रोन्मेषकारी, विदग्धकारी तथ्य यह है कि इसमें हिन्दुओं का प्रवेश वर्जित है। इस्लाम, धर्म-परिवर्तनकारी धर्म होने के कारण, ग़ैर-मुस्लिमों के लिए मात्र उन्हीं स्थानों में प्रवेश मना करता है जिनमें मुस्लिमों को आशंका है कि ग़ैर-मुस्लिम लोग इसे अपनी पूर्वकालिक सम्पत्ति कहकर वापस ले सकेंगे। इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित इमामबाड़ा-परिसीमा में तथाकथित मस्जिद में अमुस्लिमों का प्रवेश क्यों मना है जबकि लखनऊ की ही अन्य मस्जिदों में अमुस्लिमों को प्रवेश प्राप्त है। उस तथाकथित मस्जिद की यदि पुरातत्वीय जाँच-पड़ताल की जाय, तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह भवन लेशमात्र भी मस्जित नहीं है, अपितु एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर है जो विजयोपरान्त मुस्लिम आधिपत्य में चला गया था। जिस प्रकार विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों ने भारत का एक अति विशाल भाग विजय के फलस्वरूप अपने अधिकार में कर लिया था, उसी प्रकार यदि एक मन्दिर भी हथिया लिया था तो उस भवन के इतिहास को असत्य करने और भ्रामक रूप में प्रस्तुत करने के स्थान पर उस तथ्य को वैसी ही निडरतापूर्वक और खुलेआम स्वीकार कर लेना चाहिए।

इमामबाड़े के दर्शक को एक अन्य बात पर विचार करना चाहिए। यह तथाकथित मस्जिद भी प्रायः उसी आकार की है जिस आकार का इमामबाड़ा है। क्या इमामबाड़े में निवास करने वाले, अथवा उसमें कार्य करने वाले, अथवा उसमें टकराए गये व्यक्ति को नमाज़ पढ़ने, मरने के लिए भी इतनी बड़ी मस्जिद की आवश्यकता होती? विजयोपरान्त उस भवन को मस्जिद की संज्ञा मात्र इसलिए दे दी गई है कि यह राजवंशी हिन्दू मन्दिर था और यह पश्चिम की ओर है। यदि बावली महल अथवा तथाकथित इमामबाड़ा पश्चिम पार्श्व में रहा होता, तो उनमें से एक अवश्य ही मस्जिद घोषित कर दिया गया होता। विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों का तो यह परमप्रिय, नित्याभ्यास रहा है। संगमरमरी ताजमहल

का उदाहरण लो। इसमें भी एक-से दो भवन है जो पूर्व और पश्चिम, दोनों दिशाओं से इसकी ओर मुख किए हुए है किन्तु उनमें से मात्र एक को मस्जिद के भ्रामक रूप में प्रस्तुत किए जाने की प्रक्रिया तब से चली आ रही है जब से हिन्दू राजा जयसिंह से उस भवन-संकुल को शाहजहाँ ने हथिया लिया था। उनमें से यदि एक मस्जिद है और दूसरा मात्र विशाल महाकक्ष, जैसा आजकल कपट-रूप में कहा जाता है, तो वे एक ही नमूने के, आकार के और समान लम्बाई-चौड़ाई के क्यों हों? उदाहरण के लिए, क्या किसी भवन का कोई स्नानागार और अतिथि-कक्ष अथवा बैठक एक समान होंगे?

एक अन्य ब्रिटिश लेखक लिखता है—"आसफ़उद्दौला (१७७५-९७ई०) ने बड़ा इमामबाड़ा, रेज़िडेंसी और बिबियापुर हाउस बनवाया"। किन्तु वह अपने कथन के पक्षपोषण में किसी दरबारी दस्तावेज़ जैसे प्राधिकारी का उल्लेख नहीं करता। वह हमें यह भी सूचित करता है कि "वारेन हेस्टिंग्स सन् १७८१ ई० में और फिर सन् १७८४ ई० में लखनऊ आया था"।[१] यदि गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स दो बार लखनऊ में रहा था, और आसफ़ उद्दौला के शासनकाल की सम्पूर्ण अवधि में गवर्नर जनरल का एक प्रतिनिधि अर्थात् एक ब्रिटिश रेज़िडेण्ट लखनऊ में ही निरन्तर निवास करता रहा था, तो क्या कारण है कि एक भी ब्रिटिश कर्मचारी अथवा दर्शक ने उस तथाकथित इमामबाड़े का निर्माण होने की चर्चा नहीं की है, विशेष रूप में तब जबकि परम्परागत रूप में विश्वास किया जाता है कि घोर दुर्भिक्ष के समय राहत-कार्य के रूप में इस इमामबाड़े का निर्माण करवाया गया था।

इसके विपरीत, हमें ज्ञात होता है कि चूँकि यह अंकित है कि वारेन हेस्टिंग्स को सन् १७८४ ई० में बावली-महल में ठहराया गया था। वह पहले भी अर्थात् सन् १७८१ ई० में लखनऊ आने पर—तीन वर्ष पूर्व भी वहीं ठहराया गया होगा। और वारेन हेस्टिंग्स को बावली-महल में मुख्य रूप में इसीलिए ठहराया गया होगा क्योंकि यह बावली-महल उस सम्राट् का भी परम्परागत राजवंशी अतिथि-कक्ष रहा है जो पूर्वकालिक अविस्मरणीय हिन्दू शासन की अवधि में भी इस तथाकथित इमामबाड़ा-राजप्रासाद का आधिपत्यकर्ता रहा है।

---

१. मेजर ए०टी० एण्डर्सन कृत लखनऊ का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २-३।

इसी प्रकार, आज जिसको भ्रामक रूप में मस्जिद कहा जाता है, वह उस हिन्दू सम्राट् का राजकुलीन हिन्दू मन्दिर था जिसने अपने राजमहल के रूप में इमामबाड़े का निर्माण कराया था और बावली महल अतिथि-कक्ष के रूप में बनवाया था।

एक अन्य पुस्तक में लिखा है—"बड़ा इमामबाड़ा आसफ़उद्दौला द्वारा बनवाया गया था। (इसका) मध्य-महाकक्ष संसार का सबसे बड़ा कमरा विश्वास किया जाता है। इस पर एक करोड़ रुपये अथवा दस लाख स्टर्लिंग व्यय हुए कहे जाते हैं। किन्तु यह सन्देहास्पद परम्परा है जब तक कि इसमें बहुमूल्य पत्थर सुशोभित न रहे हों, किन्तु अब उनका भी कोई नाम-निशान नहीं है। इलियट के अनुसार कहानी इस प्रकार है कि नवाब आसफ़उद्दौला ने सम्पूर्ण भारत के वास्तुकलाकारों से कहा कि वे एक इमामबाड़े के निर्माण के लिए अपनी-अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करें—जिनको प्रतियोगिता के आधार पर चुना जाएगा—साथ ही यह भी अनुदेश थे कि वह भवन किसी अन्य भवन की नकल नहीं होना चाहिए और इसकी सुन्दरता व शान विश्व के किसी भी अन्य भवन से अधिक होनी चाहिए। सफल प्रतियोगी का नाम किफ़ायत उल्लाह बताया जाता है, और इस भवन का निर्माणोद्देश्य स्वयं नवाब के मृत-पिण्ड को दफ़नाने के लिए एक मकबरा तैयार करना था। मुहम्मदी सरदारों की यह एक पद्धति रही है कि वे अपनी मृत्यु से पूर्व ही उन इमामबाड़ों की देखभाल की पूरी व्यवस्था कर देते थे जिनमें उनके अवशेष रखे जाते थे—इसके लिए वे विशाल दान देते थे। किन्तु इन मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि नवाब आसफ़उद्दौला ने इस महत्त्वपूर्ण बात की उपेक्षा कर दी; इसीलिए यह शानदार भवन अब तोपखाने और बारूदखाने के रूप में उपयोग में लाया जाता है। यह एक ऐसा प्रयोजन है जिसके बारे में इस भवन के यशस्वी निर्माता ने निश्चित रूप से कल्पना भी नहीं की होगी कि कभी ऐसा भी किया जाएगा।"[१०]

यह अत्यन्त नेत्रोन्मेषकारी अवतरण है जिसकी अत्यन्त सूक्ष्म समीक्षा करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि लेखक को अपने कथन के समर्थन में किसी प्राधिकारी का उल्लेख नहीं करना है मात्र परम्परागत कपट-भरी कहानियों के जैसाकि उसकी

१०. लखनऊ एलबम, पृष्ठ ५०-५१।

इस अस्वीकृति से स्पष्ट है कि भवन की जो दस लाख स्टर्लिंग लागत कही जाती है वह संदिग्ध परम्परा की है क्योंकि भवन पर उस समय इतना खर्च नहीं होना चाहिए था जब तक कि उसमें बहुमूल्य हीरो-मोती न लगे हों। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि तथाकथित इमामबाड़े का आसफ़उद्दौला द्वारा निर्माण किया जाना मात्र सुनी-सुनाई बात है। यही कारण है कि कोई भी इसकी ठीक-ठीक कीमत नहीं बता सका है। संयोगवश, इस अवतरण में असावधानी-वश यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि इस भवन में बहुल-संख्या में कीमती जड़ाऊ पत्थर सुशोभित थे। यह कोई आश्चर्य नहीं है कि इस्लामी आधिपत्य की इतनी सारी शताब्दियों के बीच उन सभी बहुमूल्य जड़ाऊ वस्तुओं को चुरा लिया गया है। कारण यह है कि मुहम्मद-बिन-कासिम के युग से आगे सभी विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों का उद्देश्य हिन्दुस्थान से धन को लूटना ही था।

यह लेखक, फिर उस कहानी के लिए प्राधिकारी के रूप में इलियट को उद्धृत करता है जिसमें कहा गया है कि आसफ़उद्दौला ने अपने मृत-पिण्ड के अद्भुत, विलक्षण मकबरे के निर्माण के लिए सारे भारत से नमूने मँगवाए थे। चूँकि इलियट एक आधुनिक इतिहास लेखक ही था, इसलिए उसने उसी किंवदन्ती को लिख दिया जिसको उसने तथाकथित इमामबाड़े के बारे में बहुधा सुना था। इलियट किसी प्राधिकारी को उद्धृत नहीं करता। वास्तव में आसफ़उद्दौला ने किसी अखिल भारतीय प्रतियोगिता की घोषणा की होती, तो उसके दरबारी अभिलेखों में अथवा उसके दरबार में स्थित ब्रिटिश कर्मचारियों में से किसी ने तो उस प्रतियोगिता का प्रारूप अथवा घोषणा-आदेश प्रस्तुत किया होता। और यदि सैकड़ों मानचित्र प्राप्त हुए थे, तो उनमें से कुछ तो आसफ़उद्दौला के दरबारी काग़ज-पत्रों में उपलब्ध हुए होते!

हमने ऊपर जिस लेखक को उद्धृत किया है, वह पूर्व-उद्धृत अन्य वर्णनों से बहुत भिन्न है। अन्य लेखकों का सामान्यतः यह मत रहा है कि इमामबाड़े का निर्माण अकाल से राहत-कार्य के हेतु, सम्भवतः ताज़ियों के कारखाने एवं उनके भण्डार-घर के रूप में उपयोगार्थ ही हुआ था। किन्तु पूर्वोक्त अवतरण में साग्रह कहा गया है कि इमामबाड़ों का प्रयोजन ताज़ियों के कारखानों के रूप में उपयोग में आने का न था, अपितु स्वयं निर्माता के मकबरे के रूप में उपयोग किए जाने में था। क्या अपव्ययी, व्यभिचारी आसफ़उद्दौला अपनी मौत के बारे में और

अपनी लाश के ऊपर मकबरा बनाने के लिए विशाल धन-राशि गँवाने के सम्बन्ध में कभी विचार भी कर सकता था जबकि वह आजीवन अर्थाभाव में रहा? साथ ही, भारत में प्रत्येक मुस्लिम शासक के मरने और मरने से पूर्व अपने मृत-पिण्ड के लिए एक शानदार मकबरा बनाने की यह कहानी इतनी अधिक बार कही जा चुकी है कि इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। अब उपयुक्त समय आ गया है कि विश्व ऐसी नितान्त झूठी, ऊल-जलूल बातों से भ्रमित होना बन्द कर दे। कम-से-कम एक बार तो किसी को अवश्य रुकना चाहिए और निर्माणादेशों, दैनन्दिन व्यय लेखों, श्रमिक नाम-सूचियों, मँगाए धन-सामान के देयकों और रसीदों अथवा अन्य प्रभावी शिलालेखों के रूप में ठोस प्रमाण माँगना चाहिए। इस सबके अभाव में व्यक्ति को स्पष्ट दिखाई दे सकता है कि इमामबाड़ा की असत्य कथा में ताजमहल की कहानी का ही अनुसरण किया गया है। उसमें विश्व भर में एक अनुपम, अद्वितीय, आश्चर्यजनक मकबरे के निर्माण के लिए अखिल भारत अथवा विश्व-स्तर पर प्रतियोगिता कराने की बात कही गयी है।

उपर्युक्त अवतरण का लेखक हमें आगे बताता है कि यद्यपि आसफ़उद्दौला ने अपने मृत-पिण्ड के मकबरे पर दस लाख स्टर्लिंग व्यय करने में विश्वभर की सभी सावधानी बरती थी, तथापि वह इसके रख-रखाव की व्यवस्था करना भूल गया, यद्यपि मरणोपरान्त ऐसी व्यवस्था रखना एक महत्त्वपूर्ण विवरण समझा जाता है। यह सब कुछ अत्यन्त विचित्र, बेहूदा और उपहासास्पद प्रतीत होता है। यदि कोई नवाब अपने लिए मकबरा बनवाने हेतु एक बहुत विशाल धन-राशि व्यय करने को विश्वभर की मुसीबतें सिर पर ले सकता है और उस मकबरे को बनवाने में बहुत ही सावधानी बरतता है, तो उसका सब किया कराया बेकार हो जाता है यदि वह अपनी मृत्यु के बाद उस मकबरे की भली भाँति देखभाल के लिए कोई व्यवस्था करता ही नहीं है। यह विवरण भी इमामबाड़े की कथा को पुनः कपट-जाल सिद्ध कर देता है।

ऊपर दिए हुए उद्धरण की अन्तिम पंक्ति से सन्देह होता है कि तथ्य रूप में, आसफ़उद्दौला उस तथाकथित इमामबाड़े में दफ़नाया हुआ नहीं पड़ा है। उसे वहाँ दफ़न किए हुए की झूठी कथा को उस समय प्रचारित किया गया होगा जब ब्रिटिश लोगों ने अपना शस्त्र-भण्डार उस भवन से अन्तिम रूप में हटा लिया होगा। भवन एक बार खाली किए जाने पर नवाब के कुछ चतुर आश्रितों और

पिछलग्गुओं ने मुक्ति की ठण्डी साँस ली होगी तथा इमामबाड़े को सार्वजनिक प्रयोजनों से पुनः अपने ब्रिटिश अधिकार में लिये जाने से रोकने के लिए वहाँ नवाब आसफ़उद्दौला को दफ़न किया होने की असत्य कथा को प्रसारित कर दिया। आसफ़उद्दौला वहाँ दफ़नाया गया होने का बहाना तो उनकी स्वार्थ-पूर्ति करता था क्योंकि वे ऐसा करके किसी गन्दी बस्ती की जीर्ण-शीर्ण झुग्गी-झोंपड़ी में अपने दिन गुज़ारने के स्थान पर उन भव्य प्राचीन हिन्दू परिसीमाओं में मौज से अपने दिन बिताते थे। इस सन्देह का एक मुख्य आधार यह है कि उस स्थान पर कोई मृद्राशि कब्र नहीं बनी है जहाँ आसफ़उद्दौला सचमुच ही दफ़नाया हुआ पड़ा है। तब ब्रिटिश लोगों ने उस भवन को अपने शस्त्रागार के रूप में किस प्रकार उपयोग में ले लिया था?

जिस लेखक को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसी लेखक द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इसी इमामबाड़े को नवाब आसफ़उद्दौला ने अपने जीवन-काल में अपने राजमहल के रूप में उपयोग में लाया था। वह लिखता है—"रूमी दरवाज़ा उस तोरणद्वार से बनाया गया अथवा उस तोरणपथ का हू-बहू पुनर्निर्माण अनुमान किया जाता है जो कॉन्स्टैनटिनोपल के एक प्रमुख बाज़ार मार्ग में अब खड़ा हुआ है। क्या सचमुच ऐसी ही बात है, यह सन्देहास्पद है। दाई और दौलतखाना—नवाब आसफ़उद्दौला का राजमहल है। यह कई भवनों वाला है, जिसको अपने अधिकार में ले लेने के बाद, शस्त्रागार और सेना-रसद भण्डारों के रूप में ब्रिटिश लोगों ने अपने उपयोग में लाया था; सन् १८५७ ई० का विद्रोह फैल जाने पर इनका परित्याग कर दिया गया था।"[११]

उपर्युक्त अवतरण के सन्दर्भ में हम अभिप्रेरित असत्य कथाओं को प्रसारित-प्रचारित करने में मुस्लिम लेखकों द्वारा प्रयुक्त एक अन्य कपटजाल के बारे में इतिहासकारों को सावधान करना चाहते हैं। भोपाल, हैदराबाद, फतहपुर सीकरी और लखनऊ जैसे भारत के नगरों में बनी हुई मस्जिदों, सरायों, मकबरों और द्वारों को इस्तम्बूल, समरकन्द अथवा बुखारा में बनी हुई किसी वस्तु के नमूने पर निर्मित इस विश्वास से कह दिया गया है कि कोई व्यक्ति ऐसा तो होगा नहीं जो इतनी दूर-दूर पर स्थित दो नमूनों की एक-रूपता को परखने का कष्ट

---

११. लखनऊ एलबम, पृष्ठ ५१-५२।

करेगा। पर्याप्त आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी झूठ बातों को अभी तक पुष्ट होने दिया गया है। किसी ने भी सन्देह नहीं किया कि इस बात में कोई धोखा भी सन्निहित हो सकता है। किन्तु इस प्रकार के साग्रह कथन, तथ्यतः ऐतिहासिक कपट-जाल है। भारत में किसी मुस्लिम सुल्तान द्वारा बनाए गए कहे जाने वाले भवन, जिन पर ये मुस्लिम लोग अपने दावे करते है, उनके अपने विदेशी स्थानों में बने हुए किसी भवन की नकल करने पर उनके मुस्लिम उग्रवाद को सन्तुष्टि प्राप्त हो जाती थी। ऐसे कथनों में दो कपट, धोखे निहित है। एक तो यह है कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा निर्मित किए गए ताजमहल जैसे सभी भवन पूर्वकालिक हिन्दू-मूल के सिद्ध किए जा चुके है। दूसरा धोखा इसके बाह्य-देशीय नमूने के दावे में छिपा है। भारत में एक भी ऐतिहासिक भवन इस्लामी देशों में बने किसी भी भवन की नकल नहीं है। कुछ अनिश्चित, सुने-सुनाए इस्लामी दावों के होते हुए भी, वह तथाकथित रूमी दरवाज़ा कॉन्स्टैनटिनोपल में किसी भी बने किसी भी दरवाजे की नकल नहीं होना तो ऊपर उद्धृत लेखक द्वारा स्वयं ही यह कहकर स्वीकार किया गया है कि यह दावा 'सन्देहास्पद' है।

जैसा हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है, इस तथाकथित रूमी दरवाज़े का नाम रामायण के नेता राम के नाम पर पड़ा है। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने विजित हिन्दू संरचनाओं के नामों को अपनी निकटतम इस्लामी ध्वनि में परिवर्तित करने में महान् शब्दार्थ-विज्ञान की प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। राम-द्वार से निर्मित रूमी दरवाज़ा शब्दावली इसी तथ्य का एक विशिष्ट उदाहरण है।

लेखक हमें यह भी बताता है कि जब कोई व्यक्ति उस कथाकथित रूमी दरवाज़े में प्रवेश करता है, तब उसकी दाईं ओर नवाब का राजमहल आता है और यह वही राजमहल है जिसे ब्रिटिश शासकों द्वारा शस्त्रागार के रूप में उपयोग में लाया गया था। पहले हमने यह ध्यान किया ही था कि ब्रिटिश लोगों ने उस भवन को शस्त्रागार के रूप में उपयोग किया था जिसको आजकल इमामबाड़ा कहते है और जिसमें नवाब आसफ़उद्दौला दफ़नाया पड़ा कहा जाता है। अब हमें यह बताया गया है कि रूमी दरवाज़े में प्रवेश करने पर दाईं ओर स्थित भवन आसफ़उद्दौला का राजमहल था जिसे ब्रिटिश लोगों ने शस्त्र-भण्डार के रूप में इस्तेमाल किया था। ये कथन निर्णायक रूप में सिद्ध करते है कि यह तथाकथित इमामबाड़ा स्वयं ही, हमेशा, नवाब आसफ़उद्दौला के राजमहल के रूप में

उपयोग में आता रहा है। यह तथ्य हमारे द्वारा प्रस्तुत उस कथन का एक अन्य समर्थक प्रमाण है कि नवाब आसफ़उद्दौला ब्रिटिश गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को बावली महल में अतिथि के रूप में केवल तभी ठहरा जा सकता था जबकि वह स्वयं भी निकटस्थ तथाकथित इमामबाड़े में निवास करता रहा हो। उपर्युक्त अवतरण का लेखक हमें एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात—एक परिचायक विवरण प्रदान करता है। वह कहता है कि नवाब का राजमहल कई भवनों वाला है। हम पूरी तरह, इस तथ्य से, सहमत है। हम सब समय यही मत प्रगट करते रहे हैं कि तथाकथित बड़ा इमामबाड़ा कोई एकाकी भवन नहीं है। यह तो एक अति प्राचीन भवन-संकुल का भाग है जिसमें इमामबाड़े के छद्मनाम से पुकारा जाने वाला केन्द्रीय महल है, इसके पश्चिम की ओर एक अन्य राजकीय भवन है जो आजकल मस्जिद के भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अन्य भवन पूर्व की ओर है जो बावली महल कहलाता है, इसी के सामने एक अन्य भवन है जो नक्कार-खाना कहलाता है, और इसी विशाल भवन-संकुल को, परिवेष्ठित करने वाली विशाल परिधीय प्राचीर है जिसमें स्वयं भी दुमंजिले कमरे बने हुए है जो राजमहल के कर्मचारियों और दुर्ग सेना के रहने के लिए थे। आसफ़उद्दौला को इस इमामबाड़े का निर्माण-श्रेय देने वाली इस्लामी असत्य कथाएँ इस बात का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने में विफल रही हैं कि उन भवनों को किसने और किस प्रयोजन से बनवाया था।

प्रसंगवश, हम यहाँ इस तथाकथित रूमी दरवाज़े के बारे में एक अति महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत करना चाहते है। इस दरवाज़े पर, जो रामायण के नायक राम के नाम पर निर्मित है, एक विशिष्ट नमूना बना हुआ है। इस पर बने हुए कारीगरी, चिनाई के नमूने इसको ऐसी छटा प्रदान करते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि टहनियों वाली उप-शाखाओं और पत्तों-पत्तियों से यह कोई वन-द्वार बना हुआ हो। चौदह वर्षीय दीर्घावधिक बनवासी जीवन व्यतीत करते समय राम और उसके भाई (लखनऊ के संस्थापक-शासक) लक्ष्मण को रावण के विरुद्ध जो युद्ध लड़ना पड़ा था, उसी की चिर-स्मृति में इसका निर्माण किया गया था।

एक अन्य अंग्रेज़ लेखक भी रूमी दरवाज़े के बारे में इस कपट-जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है, उस झूठ का भण्डा-फोड़ कर देता है। वह लिखता है—'कॉन्स्टैनटिनोपल में कोई दरवाज़ा खड़ा नहीं है जो इस (रूमी) दरवाजे से

तनिक भी मिलता-जुलता हो, और इससे एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नवाब आसफ़उद्दौला, सम्भवतः धोखे का शिकार हुआ था। यह दरवाज़ा एक विशाल आकार वाला निर्माण है जिसके दोनों ओर पत्तियों की नकलें हैं जो नीचे आधार से ऊपर से उठती हैं और कमानी के ऊपर फैल जाती हैं जिनसे नुकीली मेहराब बन जाती है। तोरण-द्वार पर एक कंगूरा बना हुआ है।''[१२]

उपर्युक्त अवतरण के लेखक ने सुदूरस्थ कॉन्स्टैनटिनोपल में किसी दरवाज़े से इसी रूमी दरवाज़े के रूप-साम्य के बारे में मुस्लिम ढकोसले का भण्डा-फोड़ करके एक अच्छा कार्य ही किया है। किन्तु उसकी यह धारणा भी ग़लत है कि नवाब आसफ़उद्दौला के लिए उस दरवाज़े का निर्माण करने वाले वास्तुकलाकार ने ही नवाब को धोखा दिया है। आसफ़उद्दौला और उसके दरबारी अत्यन्त विदग्ध बुद्धि वर्ग के व्यक्ति थे। वे कोई ऐसे मूर्ख न थे जो किसी इक्के-दुक्के वास्तुकार द्वारा धोखा दिया जा सकते हो। तथ्य रूप में तो लखनऊ-दरबार के चाटुकारों ने ही इतिहास के समस्त संसार को और सभी लोगों को यह विश्वास दिलाकर ठगा है कि यह तथाकथित इमामबाड़ा और रूमी दरवाज़ा आसफ़उद्दौला के कहने पर बनवाए गए थे।

ऊपर दिए गए अवतरण में द्वार के उस अद्वितीय नमूने की ओर ध्यान आकृष्ट करके ठीक ही किया है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह द्वार लम्बी पत्तियों से ढका हुआ है। जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, उस नमूने का विशेष हिन्दू माहात्म्य है। देव-तुल्य भ्राताओं राम-लक्ष्मण द्वारा १४ वर्षीय दीर्घ युद्ध उनके जीवन का सर्वाधिक मर्मभेदी और महत्त्वपूर्ण अध्याय रहा है; महाकाव्य रामायण का मर्म, सार भाग भी यही है। उस महाकाव्य में बारम्बार वर्णन किया जाता है कि राम और लक्ष्मण वनों में टहनियों और पत्तियों के बने हुए निभृत, गुप्त स्थानों में रहते रहे थे। उसी विषम, विकट युद्ध की स्मृति में यह मुख्य-द्वार, जो आजकल असत्य रूप में इमामबाड़े के नाम से प्रचलित इस प्राचीन हिन्दू राजप्रासाद का मार्ग प्रशस्त करता है, लम्बी पत्तियों से आवृत्त प्रतीत होता है।

लखनऊ के इस पुण्य, अति प्राचीन द्वार के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण विवरण, जिसे उपर्युक्त लेखक ने ध्यान से देखा नहीं है, वह अष्टकोणात्मक शृंग

---

१२. एडवर्ड एच० हिल्टन लिखित लखनऊ के पर्यटकों की मार्गदर्शिका, पृष्ठ १७७।

है जो द्वार के शीर्ष पर सुशोभित है। वह शृंग अवध अर्थात् अयोध्या क्षेत्र के राजकीय छत्र का प्रतीक है।

हिन्दुओं की अष्ट-दिशाओं के प्रति एक विशेष रुचि है। विश्व भर में हिन्दू लोग ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने सभी आठों दिशाओं के नाम रखे हुए हैं और प्रत्येक दिशा के एक-एक अलौकिक रक्षक निश्चित किए हुए हैं। उनको अष्ट-दिक्पाल कहते हैं। हिन्दू लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर—देवताओं और सम्राट् का सभी दस दिशाओं में पूर्ण प्रभुत्व है। जब कोई भवन निर्मित होता है, तब इसका कलश और इसकी नींव उकाकाशों और पाताललोक की ओर इंगित करते हैं। अतः, यदि कोई भवन अथवा इसका बुर्ज अथवा इसका छत्र अष्टकोणात्मक होता है, तब हिंदुओं को ज्ञात सभी १० दिशाएँ स्वतः देवता अथवा सम्राट के प्रभुत्व में आ जाते हैं। अतः हिन्दू देवी-देवता अथवा सम्राट से सम्बन्धित सभी भवन, जो पुरातन हिन्दू शैली में बनाए जाते हैं, कोई-न-कोई अष्टकोणात्मक लक्षणपूरित होते ही हैं चाहे वह भवन स्वयं अष्टकोणात्मक न भी हों।

तोरथ-पथ पर कँगूरा निर्मित है मात्र इसलिए कि इसका उद्देश्य शत्रु के आक्रमण के विरुद्ध इसकी रक्षा-हेतु रक्षक खड़े रखना और पथ की रक्षा करना था। यदि इमामबाड़ा एक मकबरा अथवा ताज़ियों के लिए एक कारखाना ही था, जैसा मुस्लिम-वर्णन बहाना करते हैं, तो इसमें कँगूरे-युक्त दीवारों की आवश्यकता नहीं थी।

झूठे दावे प्रस्तुत करने की परम्परा के अनुरूप ही एक तत्कालीन मुस्लिम लेखक, जो लखनऊ के नवाब आसफ़ उद्दौला का कर्मचारी था, उल्लेख करता है कि शुजाउद्दौला के शाही हरम का परिनिरीक्षक नुसरत अली ''पंच महल के पास उस जगह रहता था जिसके पूर्वी कोने पर, अब, आसफ़उद्दौला द्वारा निर्मित बावली बनी हुई है।''[१३]

मध्यकालीन मुस्लिम इतिहास के प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को इस्लामी तिथिवृत्तों में अंकित कथनों को ज्यों-का-त्यों, लिखितानुसार, सत्य मान लेने के प्रति अत्यन्त सतर्क, सावधान रहना चाहिए। ऊपर दी गई, बाह्य रूप से

---

१३. तारीख़ फ़राहबख़्श, पृष्ठ ४८।

अनपकारी प्रतीत होने वाली पंक्तियों का विश्लेषण करके हम यह दर्शाएँगे कि मुस्लिम तिथिवृत्तों में प्रयुक्त शब्दों और वाक्य-खण्डों में किस प्रकार निराधार, निरर्थक दावे सम्मिलित हैं। ऊपर उद्धृत लेखक हमें बताता है कि नुसरत अली पंचमहल के पास, पूर्वी किनारे में उस जगह रहता था जहाँ अब आसफ़उद्दौला द्वारा निर्मित बावली बनी हुई है। निश्चित बात है कि नुसरतअली खुली जगह पर तो रहता नहीं होगा जबकि इसे नवाब के हरम में हज़ारों औरतों की देखभाल करनी होती थी। अपने पद के कारण वह दरबार का उच्च पदस्थ व्यक्ति था यद्यपि मात्र शाही दलाल के रूप में ही था। यदि अब उसी स्थान पर आसफ़उद्दौला की बनायी हुई बावली (अर्थात् कूप) बनी हुई है, तो लेखक ने हमें यह भी नहीं बताया गया है कि वहाँ कौन-सा भवन पहले बना हुआ था। और यदि वह भवन गिराया गया था, तो इसे क्यों गिराया गया था? किसने, कब और किस उद्देश्य से ऐसा किया था? यदि आसफ़उद्दौला ने इसे गिराया था, तो हमें यह भी नहीं बताया गया है कि इस कार्य में कितना समय लगा था, और एक भवन के स्थान पर मात्र एक कूप के निर्माण का प्रयोजन क्या था? यदि आसफ़उद्दौला ने ही यह कूप खुदवाया था, तो यह परियोजना कब प्रारम्भ की गई थी? यह पूरी कब हुई थी? और इस पर कितना धन व्यय हुआ था? यदि यह कूप आसफ़उद्दौला द्वारा ही बनवाया गया था, तो यह इतना भद्दा और इतनी बुरी तरह प्रस्तर-विजड़ित, विद्रूप क्यों हुआ है जबकि इसी के पास वाला इमामबाड़ा तुलनात्मक रूप में अधिक सुरक्षित अवस्था में है? यदि आसफ़उद्दौला ने इस कूप को बनवाया था, तो सन् १७८१ ई० के आस-पास ही वारेन हेस्टिंग्स इसमें किस प्रकार निवास कर सका? मुहम्मद फ़ैज़ जिसको शब्दाडम्बर में कूप कहता है, वह तो कूप के चारों ओर बना हुआ विशाल भवन है। वह कूप तो एक मध्य अनावृत भाग ही है जिसका उद्देश्य ठण्डी हवा और निर्मल प्रकाश चारों ओर के कमरों में उपलब्ध कराना रहा है। तथ्य तो यह है कि मुहम्मद फ़ैज़ द्वारा दिया गया सम्पूर्ण विवरण गड़बड़ किया हुआ है। सम्पूर्ण भवन-संकुल पूर्णकालिक हिन्दू-मूलक होने के तथ्य को छिपाने और इसके मूलोद्गम का श्रेय आसफ़उद्दौला को देने के विफल प्रयत्न में उसने बहुत सारी बातें मिला-जुला दी हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पंच-महल अर्थात् पाँच-मंज़िला भवन उस भवन के अतिरिक्त कोई अन्य भवन नहीं है जो कूप के चारों ओर बना हुआ है। यह तो वहाँ चिर-अतीत काल से बना हुआ है।

नवाब के हरम का मुखिया नुसरत अली इसी के एक कमरे में रहता था जबकि नवाब के हरम की सैकड़ों महिलाओं को कूप के चारों ओर की कई मंज़िलों में निवास- स्थान प्राप्त था। नवाब स्वयं उस निकटवर्ती राजमहल में रहता था जिसे आजकल इमामबाड़ा कहते हैं। उसी महल में उस दिन की सर्वोत्कृष्ट महिला नवाब के साथ रँग-रलियाँ करती थी, जबकि अन्य महिलाएँ पंच-महल अर्थात् बावली-भवन में बैठकर ही शाही आनन्दोपभोग की प्रतीक्षा किया करती थीं। वारेन हेस्टिंग्स को सन् १७८१ व १७८४ ई० में बावली-भवन में मुख्यतः इसी कारण ठहराया गया होगा कि उसे हरम की महिलाओं का लौकिक सुख प्रदान किया जाए और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारी ऋण की अदायगी के बारे में नवाब पर उसके रोष को कम रखा जाए।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि यद्यपि अन्य सभी लेखकों की भाँति, मुहम्मद फैज ने आसफ़उद्दौला द्वारा इमामबाड़ा बनवाने की बात का कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि उसने बावली बनवाने का श्रेय आसफ़उद्दौला को दे दिया है—उस निर्माण के बारे में उसने कोई भी विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। अन्य लोगों ने इमामबाड़े को आसफ़उद्दौला की महान् स्थापत्य-उपलब्धि माना है।

'तफ़ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन' नामक तिथिवृत्त के लेखक, अन्य तत्कालीन मुस्लिम लिपिक अबू तालिब ने, दूसरी ओर यह दावा करते हुए कि आसफ़ उद्दौला ने सन् १७९१ ई० में इमामबाड़ा-निर्माणादेश दिया था, यह कहीं भी उल्लेख नहीं किया है कि नवाब ने बावली-महल का निर्माण आदेश दिया था। इसका परिणाम यह है कि इन दो समकालीन मुस्लिम लिपिकों—मुहम्मद फैज और अबू तालिब—ने इस्लाम के पक्ष में दो पूर्वकालिक, प्राचीन हिन्दू भवनों अर्थात् पंचमहल उपनाम पंजमहल उपनाम बावली भवन, और मत्स्यभवन उपनाम इमामबाड़ा पर इस्लामी दावे प्रस्तुत कर दिए हैं। तीसरे भवन अर्थात् तथाकथित मस्जिद के बारे में दोनों ही लिपिक चुप्पी साध गए हैं।

कूप के चारों ओर भवन-निर्माण कराना एक अति प्राचीन हिन्दू पद्धति है। रेगिस्तानी परम्परा वाले मुस्लिमों के बारे में ज्ञात ही है कि जहाँ तक सम्भव होता है वे अपने नित्य के कामों में पानी का प्रयोग कम-से-कम करते हैं। बहु-कक्षीय कमरों वाले कूप प्रायः हर एक प्राचीन राजकुलीन हिन्दू राजधानी में विद्यमान हैं। तथ्य तो यह है कि जिस भी परिसीमा में बहु-मंजिला कूप हो, उसे स्वतः ही हिन्दू

स्वामित्व और निर्माण मान लेना चाहिए। इस प्रकार, उदाहरण के लिए दिल्ली में शब्द-पाखण्ड में जिसे फ़िरोजशाह कोटला कहते है वहाँ अशोक महाराज का ध्वस्त राजप्रसाद और आगरा-स्थित ताजमहल अर्थात् तेजो-महा-आलय, जिसमें ऐसे बहु बहु-मंजिले रूप है, प्राचीन हिन्दू भवन हैं।

मुहम्मद फैज किसी अकाल का, अथवा अकाल से राहत-कार्य के रूप में इमामबाड़ा-निर्माण परियोजना का, अथवा स्वयं नवाब आसफ़उद्दौला के लिए भावी मकबरे के रूप में इमामबाड़े का निर्माण करने के बारे में कुछ भी उल्लेख नहीं करता है। आसफ़उद्दौला तो इतना दुराग्रही, सुखोपभोगी था कि स्वयं के ऊपर मकबरा बनवाने की बात सोचने की बजाय वह अन्य लोगों को दफ़न करा देता।

कपटपूर्ण, असत्य तिथिवृत्त लेखन के नमूने के रूप में हम फिर मुहम्मद फैज को उद्धृत करते है। फैज लिखता है—"वह (अर्थात् जवाहरअली खान नामक हिन्दू लड़का, जिसका अपहरण किया गया और जिसे इस्लाम में धर्म-परिवर्तित किया गया था) अपने ५७ वें वर्ष में (सन् १७९९ ई० में) मर गया और इमामबाड़े में दफ़नाया गया था जिसे उसने स्वयं ही बनाया था। वह भवन उन दिनों लकड़ी का था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद दराब अली खान ने उसे बहुत बड़ा कर दिया और ईंटों का भवन बना दिया। दराब अली खान के अनुरोध पर मैंने एक चतुष्पदी लिखी जो उसकी कब्र पर उत्कीर्ण है—

"जब अब बड़ा आदमी, जवाहर जिसका नाम ठीक ही था,
पृथ्वी की धूल के नीचे, विश्राम हेतु लिटा दिया था,
तब उसकी मृत्यु पर धर्म महादूत ने यह घोषित किया था,
देखो! इमाम के चरणों में, उसकी कब्र बनायी गयी है?"[१४]

फ़ैज चाहता है कि हम विश्वास करें कि जवाहरअली ने भी, अपनी मृत्यु से पूर्व ही, एक इमामबाड़ा बनवा/बना लिया था। इससे मध्यकालीन भारत के मुस्लिम लोग अति विचित्र जाति प्रतीत होते है, क्योंकि, जैसा हमें प्रत्येक मुस्लिम तिथिवृत्त लेखक विश्वास करने को कहता है, उन सब लोगों को सनक थी कि वे अपने जीवन-काल में ही अपने लिए मकबरे या समुदाय के लिए मस्जिद बनवा

---

१४. तारीख फराहबख्श, पृष्ठ ६०।

लिया करते थे। किन्तु, न तो स्वयं के लिए और न ही अपने भीड़-भाड़ वाले हरमों अथवा बच्चों के लिए कोई भवन-निर्माण कराते थे। क्या कोई व्यक्ति ऐसी किसी जाति की कल्पना कर सकता है जिसका शहजादे से लेकर भिखारी तक प्रत्येक व्यक्ति केवल मकबरा और मस्जिद बनवाता है, किन्तु जीवित व्यक्तियों के निवास-योग्य कोई भवन नहीं? किन्तु ऐसी एक जाति मध्यकालीन भारत के मुस्लिमों की हो सकती थी, यदि उन्हीं के तिथिवृत्त लेखकों की लिखी बातों पर ज्यों-का-त्यों विश्वास करना हो। और तथ्य रूप में, यदि मध्यकालीन मुस्लिमों ने अपने ही जीवन-काल में अपने ही लिए विशाल मकबरे बना लिये थे, तो क्या कारण है कि उनका एक भी वंशज आज उस पद्धति का पालन क्यों नहीं करता? यह परीक्षण मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्त लेखकों के दावे को असत्य, निराधार, झूठा सिद्ध कर देता है।

यदि जवाहरअली खान ने, तथ्य रूप में ही, स्वयं के लिए एक मकबरा बनवाया था, तो वह इस तथ्य का उल्लेख स्वयं कब्र के भवन के ऊपर करने से क्यों चूक गया? यह कार्य दराब अली खान के लिए क्यों छोड़ दिया गया था कि वह एक कब्र पर असंगत चतुष्पदी उत्कीर्ण करने के लिए मुहम्मद फैज को भाड़े का टट्टू बनवाए? दराब अली ने फ़ैज को संगत बातें लिखने का आदेश क्यों नहीं दिया? अर्थात् यही कि जवाहर अली ने बेवकूफ़ी से अपने लिए मात्र एक काष्ठ-मकबरा ही बनवाया था जिसे दराब अली ने पर्याप्त विशाल कर दिया और अपने ही खर्चे पर, उसकी (जवाहरअली की) मृत्यु के कुछ वर्ष बाद, उसे ईंटों के बृहत्तर भवन में परिवर्तित कर दिया। जब मूल कथन के इन सभी पक्षों पर विचार किया जाता है, तो फैज के तिथिवृत्त-लेखन में छिपा हुआ धोखा उघाड़ पाने में ज्यादा देर नहीं लगती। यह स्पष्ट है कि जवाहर अली एक प्राचीन हिन्दू भवन में दफनाया हुआ पड़ा है। यदि यह ऐसी बात नहीं होती, तो फ़ैज ने भवन निर्माण के सम्बन्ध में सभी विगत विवरण हमें दे ही दिए होते। दूसरी बात, जवाहर का लकड़ी का मकबरा बनाना बेहूदा बात है। और, यदि तथ्य रूप में, उसने पर्याप्त विचार के बाद लकड़ी का मकबरा बनवाया ही था, तो दराब अली को क्या सरोकार था कि वह इसे गिरवा दे और इसके स्थान पर विशालतर, ईंटों का भवन बना दे? क्या दराब अली को अपने जीवन में करने को अन्य श्रेष्ठ कार्य नहीं रह गए थे, और क्या वह एक मृत व्यक्ति के मकबरे पर पानी की तरह व्यर्थ पैसा

अपने कीमती, गाढ़े पसीने की कमाई अन्य प्रकार उपयोग में
बहाने की अपेक्षा अपने कीमती, गाढ़े पसीने की कमाई अन्य प्रकार उपयोग में
नहीं ला सकता था? एक भलीभाँति दफ़नायी हुई लाश की चिन्ता में ही लगे रहने
की बजाय क्या दराब अली को कोई पत्नी—महिला तथा उसकी अपनी सन्तान
नहीं थी जिसकी वर्षा और हवा से रक्षा हेतु किसी शरण-स्थल की उसे चिन्ता हो?
और यदि तथ्य रूप में ही उसने जवाहरअली के मकबरे का निर्माण करने में बहुत
बड़ी धन-राशि व्यय की थी, तो इसी बात को सम्बद्ध शिलालेख में अंकित करने
में वह विफल किस प्रकार रहा? वह शिला-लेखन के प्रतिकूल न था—इस तथ्य
की पुष्टि तो इस बात से हो जाती है कि उसने मकबरे के ऊपर एक चतुष्पदी
लिखवाई ही थी। यह विचार करना मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुपयुक्त है कि
किसी भवन का निर्माण कराने वाला व्यक्ति इसके निर्माण से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण
विवरण तो देता नहीं है, और असम्बन्धित/असंगत बातों से भवन को विद्रूप कर
देता है। हम अनुभव से जानते ही है कि विश्व भर में ही, भवनों के स्वामी या तो
कुछ लिखवाते ही नहीं है, अन्यथा किसी एक कोने के पत्थर पर उस भवन के
मूल के बारे में मात्र संगत विवरण ही अंकित करवाते है। जो व्यक्ति भवनों पर
अनाप-शनाप लिख दें, किन्तु संगत विवरण लेशमात्र भी न लिखें, उनको तो
भवन-अपहरणकर्त्ता समझना चाहिए न कि भवन-स्वामी एवं निर्माता। इतिहास के
विद्यार्थियों और अनुसंधानकर्त्ताओं को इतिहास का यह कानून हृदयंगम कर लेना
चाहिए।

फ़ैज़ की टिप्पणी की असत्यता एक अन्य सूत्र से भी प्रगट हो जाती है। वह
चाहता है कि हम विश्वास करें कि दराब अली खान ने जवाहर अली के लकड़ी
के मकबरे को "बहुत विशालाकार" कर दिया था और "ईंट का भवन" बना
दिया था। यदि लकड़ी के भवन को ईंट-भवन से पुष्ट कर दिया था, तो तथाकथित
मकबरे के दर्शक को दो विशिष्ट निर्माण दिखाई देंगे। किन्तु, बाद में वक्रोक्ति
द्वार जो कुछ सूचित करना चाहता है, वह यह है कि लकड़ी का भवन गिरा दिया
गया था, और उसके स्थान पर ईंटों का एक और भी बड़ा भवन बना दिया गया
था। यदि ऐसी ही बात थी, तो फैजबख्श शब्दों को संयमित और मृदु प्रकार से
कैसे प्रयोग करता है?

किन्तु हम यहाँ पाठक को मुस्लिम तिथि-वृत्त लेखन की एक सामान्य
चालबाजी के प्रति सावधान करना चाहेंगे। फ़ैज़ ने उसी बहु-प्रयुक्त बतलाए
कौशल का सोत्साह अनुकरण किया है। अपने संरक्षक शहज़ादों अथवा दरबारियों
के नाम में प्राचीन हिन्दू भवनों का दावा करने में मुस्लिम लिपिकों ने सोचा था कि
वे भावी पीढ़ियों को सदैव के लिए यह कहकर दिग्भ्रमित कर देंगे कि इस्लामी
आक्रमणकारियों के अभ्युदय से पूर्व भारत में हिन्दू शासकों और हिन्दू गणमान्य,
प्राबद्ध व्यक्तियों ने ऐसे भवन बनवाए थे जो लकड़ी अथवा कीचड़-मिट्टी के बने
हुए थे, और मुस्लिम विजेताओं ने लकड़ी के भवनों के स्थान पर ईंटों के निर्माण
करा दिये थे, तथा कच्चे किलों के स्थान पर पत्थर के विशाल किले बना दिये थे।
इन दावों को भारत के बारे में मुस्लिम तिथिवृत्तों में वीभत्स रूप में समाविष्ट कर
रखा है। बाह्य देशों से सम्बन्धित मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों ने भी क्या यही
बात अपनायी है, यह देखना उन्हीं क्षेत्रों के इतिहास के विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है।
मलयेशियाई, इण्डोनेशियाई, इस्राइली और स्पेनिश इतिहास के विद्यार्थी-गण
अपने क्षेत्रों में इस्लामी दावों को परखें। मात्र इसलिए कि वे देख सकें कि क्या
भारत में असत्य, धोखे-पूर्ण इतिहास के समान ही तो कहीं उनके क्षेत्रों का
इस्लामी-इतिहास भी नहीं है?

फ़ैज़ अपने तिथिवृत्त में हमें एक अन्य सूत्र उपलब्ध करा देता है कि स्वयं
आसफ़उद्दौला के समय में ही यह इमामबाड़ा मत्स्य भवन ही कहलाता था क्योंकि
इसके प्रवेश-द्वारों पर विशालाकार मत्स्याकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। यह तो
आसफ़उद्दौला की मृत्यु के बाद ही था कि जन-स्मृति से उस भवन-संकुल के
सम्पूर्ण हिन्दू-पूर्व वृत्तों को पूर्णतः विस्मृत कर देने के लिए इस्लामी उग्रवाद ने
इस हिन्दू-भवन के ऊपर 'इमामबाड़ा' नाम थोप दिया। वह लिखता है—"हिज़री
सन् १२०१ (सन् १७८६-८७ ई०) वर्ष में नवाब सफ़दरजंग बीमार पड़ गए
और मरने वाले हो गए। (उनकी बहन) बहू बेगम जल्दी लखनऊ आ पहुँचीं। वह
वहाँ डेढ़ मास रहीं, और सफ़दरजंग को मिलने के लिए रोजाना मच्छी-भवन से
जाया करती थीं, जो उसका निवास-स्थान था``कुछ समय बाद ही जल्दी ही, उसी
वर्ष सफ़दरजंग परलोक सिधार गए।"[१५]

---

१५. तारीख़ फ़राहबख़्श, पृष्ठ२३१।

बहू बेगम स्वर्गीय नवाब शुजाउद्दौला की पत्नी और उस समय सत्तासीन नवाब आसफ़उद्दौला की माँ थी। वह अपने रोगी भाई सफ़दरजंग की देख-भाल, परिचर्या करने के लिए फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आई थी। उसी के अपने कर्मचारी तिथिवृत्त लेखक मुहम्मद फ़ैज़बख़्श द्वारा हमें बताया जाता है कि इसी बीमारी की अवधि में, वह मत्स्य भवन में ठहरी थी। चूँकि वह अब रानी माँ थी और पूर्व शासक की बेगम थी, अतः यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है कि वह अब उसी राजमहल में निवास करे जिसमें महारानी के रूप में वह पहले भी रही थी। उसका वह निवास-स्थान ही मत्स्य भवन के रूप में उल्लेख किया जाता है और उस तथाकथित इमामबाड़े के द्वारों पर विशालाकार मत्स्य अर्थात् मछलियाँ सुशोभित हैं। यह निर्णायक रूप में सिद्ध करता है कि रानी माँ (बहू बेगम) एक पूर्वकालिक हिन्दू-भवन में रहती थी जिसे मत्स्य-भवन उपनाम इमामबाड़ा कहते थे। जबकि मनगढ़न्त, सुने-सुनाए वर्णनों में उल्लेख है कि इमामबाड़ा सन् १७८४ ई० के अकाल के समय बना था, हम देखते हैं कि सन् १७८६-८७ ई० तक भी उस भवन का नाम मत्स्य भवन ही प्रचलित था जिसे अब 'इमामबाड़ा' कहकर पुकारा जाता है।

पाठक को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लखनऊ के अधिकांश ऐतिहासिक भवनों को मुस्लिम विजेताओं ने इमामबाड़ों की संज्ञा दी थी, चाहे उनको मस्जिदों, मकबरों, निवास-स्थानों, सरायों एवं ताजियों के कारखानों के रूप में ही प्रयोग किया गया हो। साथ ही, उनका सम्बन्ध किसी शहजादे, दरबारी अथवा सामान्य व्यक्ति से भी हो, वे सभी इमामबाड़े हैं। यह एक बेहूदगी है, जिस अपराधकर्म को केवल अपहरणकर्ता लोग ही कर सकते हैं। विभिन्न आकारों और पृथक्-पृथक् उपयोगों वाले सभी भवनों को 'इमामबाड़ा' नाम देना लखनऊ के उन प्राचीन हिन्दू भवनों का एक सर्वाधिक अनोखा बेहूदा पक्ष है जो विजयोपरान्त मुस्लिम आधिपत्य में चले गए और जिन्होंने उनके निर्माण के सम्बन्ध में इस्लामी दावों में विश्वास दिलाकर सभी इतिहासकारों को ठगा है।

मुहम्मद फ़ैज़बख़्श, यद्यपि आसफ़उद्दौला का एक वेतनभोगी कर्मचारी तथा समकालीन तिथिवृत्त लेखक था, यह उल्लेख करने में संकोच कर गया कि आसफ़उद्दौला तथाकथित इमामबाड़े में दफ़नाया गया था। फ़ैज ने जो कुछ लिखा वह मात्र यह है कि, ''आसफ़उद्दौला जलोदर के कारण सन् १७९७ ई० में मर

गया। जब मालूम हो गया कि उसे रोग लग गया है, उसकी माँ (बहू बेगम) लखनऊ आई और (अपने बेटे की मौत के बाद) नवाब की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग—हाथी, शामियाने, पशु—अपने साथ ले गयी और अपने पुत्र की मृत्यु के बाद बीस साल तक जिन्दा रही।''[१६]

अन्त में माँ ने कुछ बदला चुका ही लिया। अधिवासी नवाब के रूप में अपनी शासनावधि में उसके निरंकुश बेटे आसफ़उद्दौला ने उससे लाखों-लाखों रुपये हड़प लिये थे। यदि उसने इसमें से कुछ धन वापस ले लिया था, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। किन्तु हमें जिस बात का आश्चर्य हो रहा है वह यह है कि फ़ैज इस बात का उल्लेख करने से चूक गया है कि आसफ़ उद्दौला तथाकथित इमामबाड़े में दफनाया पड़ा है।

बहू बेगम के बारे में फ़ैज लिखता है—''बहू बेगम ८६ वर्ष की आयु को प्राप्त हो गयी। (वह सन् १८१५ ई० में दोपहर २-०० बजे के लगभग मरी थी) उसे जवाहर बेग की केन्द्रीय बारादरी में दफ़नाया गया था ठीक उसी जगह जहां वह बैठा करती थी)।''[१७]

यह इस बात का एक अन्य प्रमाण है कि मध्यकालीन मुस्लिम आभिजात्य वर्गीय लोग पहले से ही विद्यमान भवनों में दफना दिए जाते थे। अतः इतिहास-पुस्तकों और पर्यटन साहित्य के लेखकों ने उन भवनों के रूप में मकबरे निर्मित करने की घोषणा करके भयंकर भूल की है जिनको किसी कब्रयुक्त देखा है। इस प्रकार, यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि यदि वे कब्रें वास्तविक ही हैं तो वे सभी मुस्लिम शासक, दरबारी और अन्य लोग मध्यकालीन भारत के विजित हिन्दू भवनों में ही दफ़नाए पड़े हैं। इसलिए आगरा में तथाकथित 'चीनी का रोजा' और 'एतमातउद्दौला', 'सिकन्दरा' में अकबर का मकबरा, दिल्ली में हुमायूँ और सफदरजंग के मकबरे, तथा बिहार में सासाराम में शेरशाह का तथाकथित मकबरा—सबके सब पूर्वकालिक हिन्दू भवन हैं। उन सब पर हिन्दू वास्तुकला की दृष्टि से दृष्टिक्षेप करना चाहिए और उनका अध्ययन हिन्दू राजप्रासादों, मन्दिरों के रूप में ही करना चाहिए, न कि शोक-सूचक मुस्लिम मकबरों के रूप में।

---

१६. तारीख़ फराहबख़्श, पृष्ठ २५८-६०।
१७. वही, पृष्ठ २९३-९९।

तथ्य रूप में, थोड़ा-सा प्रकाश डालने पर ही, स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के दफ़नाने के स्थानों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ग्रंथो में दिए गए सन्दर्भों को पीढ़ियों ने गलत समझा है और मकबरों के बारे में ढकोसला-निर्माण में सहायता प्रदान की है। इस प्रकार, अपहृत हिन्दू भवनों में दफ़नाए गए अकबर या मुमताज या शेरशाह या एतमादउद्दौला का पता पूछा जाने पर दर्शकों को सदैव उस विशेष भवन की ओर निर्देश कर दिया जाता है जिसमें उन्हें दफ़न किया गया विश्वास किया जाता है। कुछ समय व्यतीत होने पर, दर्शकों की पीढ़ियाँ उस सम्पूर्ण भवन को ही उस विशेष मृत व्यक्ति का भवन कहने लगती है, न कि मात्र उस कब्र को ही। इस मूल और अज्ञानपूर्ण भ्रामक धारणा के ही कारण परिणाम यह हुआ है कि व्यापक रूप में समझा जाने लगा है कि प्रत्येक मध्यकालीन मुस्लिम बड़ा व्यक्ति विशिष्ट रूप में निर्मित विशाल मकबरे में दफ़नाया पड़ा हुआ है। एक बार जब यह विश्वास जन-प्रचलित हो गया, तब भवनों के वास्तविक निर्माण और उन पर व्यय की गई धन-राशियों के बारे में काल्पनिक कथाएँ प्रचलित होने में भी देर न लगी।यदि यह पक्ष ठीक से समझ लिया जाए, तो इतिहास के विद्यार्थियों को इसमें कठिनाई नहीं होगी कि वे अपने मस्तिष्क से यह अन्धविश्वास बिल्कुल निकाल दें कि मुस्लिमों अथवा उनके उत्तराधिकारियों ने स्वयं अपने अथवा अपने पूर्वजों के मकबरे बनवाने में विपुल धनराशि व्यय की और बहुत देखभाल की थी।

लखनऊ, जो अपने अन्तर्देश (तट से दूर प्रदेश) सहित, रामायण-युगीन समय से ही, एक भव्य, समृद्ध और धन-धान्य पूरित ताल्लुकदारियों और भवनों का विशाल क्षेत्र था, मुहम्मद गौरी से नवाबों के शासनकाल की समाप्ति तक विदेशियों के लूट-मार प्रधान आक्रमणों के कुपरिणामस्वरूप, आहिस्ता-आहिस्ता, एक घोर बदबूदार गन्दी बस्ती बन गया था। अकाल स्थानिक रोग बन गये थे। लूट-पाट और सर्वनाश के ७०० वर्षों में अपनी सभी पूर्वकालिक धन-संपत्ति गँवाए हुए नागरिकों को उस समय कोई आश्रय नहीं रहता था जब जिस-तिस प्रकार जीवन-निर्वाह करते समय वर्षा ऋतु भी उनका साथ नहीं देती थी। स्वयं मुस्लिम तिथिवृत्त लेखकों ने भी उन कुछ अकालों और महामारियों का उल्लेख किया है जो लखनऊ-निवासियों को यदा-कादा पीड़ित करती रहती थी। फ़ैज ने पर्यवेक्षण किया है—"हिजरी सन् १२३३ (सन् १८१८ ई०) वर्ष में लखनऊ का

वातावरण दूषित हो गया और ऐसी एक दुर्गन्ध फैली कि प्रत्येक गली में से, रात-दिन, सैकड़ों आदमियों की लाशें बाहर ले जायीं जाने लगीं। जो भी कोई आदमी रात के समय चावल खाता था, वह सवेरे उल्टियाँ करने लगता था और मर जाता था।"[१८]

ऐसे समस्त विरोधी साक्ष्यों को दृष्टि में रखते हुए लखनऊ-दरबार की अति शेखी बखानी हुई नवाबी संस्कृति, परिष्कृति और संसृष्टि को एक ऐसा भयावह कपट-जाल समझना चाहिए जिसको लखनऊ दरबार में सतत् निर्धनता को प्राप्त होते जाने वाले सामान्य लोगों के मूल्य पर पहले वाले जोंक की तरह निकम्मों, आश्रितों, चापलूसों,चाटुकारों, जी-हुजूरियों और भाँडों की पीढ़ियों ने पोषित, संवर्द्धित किया था।

आइए, हम अब एक अन्य तत्कालीन तिथिवृत्त लेखक अबू तालिब को देखें। वह भी नवाब का ही एक कर्मचारी था, जो कई बार ब्रिटिश लोगों की नौकरी भी करता था। हम उसको यह कहते हुए, पहले ही उद्धृत कर चुके हैं कि "इमामबाड़ा पूरा बन गया था और ताज़िए वहाँ जमा किए जाने लगे थे।" यह कार्य १० सितम्बर, १७९० ई० से ३० अगस्त, १७९१ ई० के बीच किसी समय का है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह घुमा-फिराकर भी, लेशमात्र भी किसी अकाल की चर्चा नहीं करता है, और परिणामतः अन्य लोगों से इस विषय से सहमत नहीं है कि इमामबाड़ा अकाल पीड़ित लोगों के लिए राहत-कार्य के रूप में बनवाया गया था।

किन्तु अबू तालिब स्वयं किसी प्राधिकारी को उद्धृत नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि वह इमामबाड़े को बनवाने के निर्माणादेश के बारे में दरबार के किसी आदेश का सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं करता है। वह हमें यह नहीं बताता कि इसका निर्माण कब आरम्भ हुआ था और उसके लिए संस्वीकृत अथवा व्यय की गई वास्तविक धन-राशि कितनी थी? वास्तुकलाकार कौन था? और क्या रूप-रेखांकनों की माँग सार्वजनिक प्रतियोगिता के माध्यम से की गई थी? इन सब विचारों से, पाठकों को इसमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि वे अबू तालिब की टिप्पणियों को—उसके समस्त लेखन-कार्य को, अभिप्रेरित, असत्य, पाखण्ड

---

१८. तारीख फ़राहबख्श, पृष्ठ ३१२।

भरी झूठ की संज्ञा से कलंकित कर सके जिसके अंतर्गत उसने इस लखनऊ स्थित भवन पर झूठा दावा करके इस्लामी पीढ़ियों से उपकृत्य होने का यत्न किया था।

आसफ़उद्दौला अनुपम, विशालाकार इमामबाड़ा-भवन ताजियों के लिए क्यों बनवाता? हमें यह भी नहीं बताया जाता कि लखनऊ का कोई मुस्लिम-शिष्टमंडल आसफ़उद्दौला को मिला था और उसने नवाब से अनुरोध किया था कि ताज़ियों के लिए एक अद्भुत भवन बनवाया जाए। अबू तालिब भी अस्पष्ट रूप में सिर्फ "इमामबाड़ा पूरी तरह बनकर तैयार हो गया" ही लिखता है—बिना यह बताए कि इसका निर्माण कब प्रारम्भ किया गया था। किसी भी लेखक ने इस बात का स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि एक राजप्रासादीय भवन के ऊपर मत्स्याकृतियाँ क्यों उत्कीर्ण है जबकि मुस्लिम लोगों के लिए किसी भी लेखक ने इस बात पर प्रकाश नहीं डाला है कि किसी भी भवन का नाम इमामबाड़ा अर्थात् इमाम का (मुस्लिम धर्म-गुरु का) निवास-स्थान क्यों कहलाता है। यदि इसका निर्माण अकाल से राहत-कार्य परियोजना अथवा ताज़ियों के भण्डार-गृह अथवा विश्रामालय के रूप में किया गया था और फिर, इसका अन्त मकबरे के रूप में क्यों हुआ था ?

हमारा यह निष्कर्ष, कि इन्द्रिय सुखोपभोगी, व्यभिचारी आसफउद्दौला ऐसा व्यक्ति नहीं था जो अकाल-पीड़ित अपनी निर्धन जनता की व्यथा से दुःखी हो, अब अबू तालिब द्वारा पूरी तरह पुष्ट होता है। तालिब इस बात का कोई उल्लेख नहीं करता है कि उसने (नवाब ने) कोई अकाल-राहत कार्य प्रारम्भ किया था, यद्यपि उसी लेखक ने यह तो लिखा है कि निर्धनों की दुःखद स्थिति से द्रवित होकर विदेशी ब्रिटिश लोगों ने कुछ सहायता की थी। अबू तालिब लिखता है—"जब गवर्नर (वारेन हेस्टिंग्स) लखनऊ में ही था, अकाल पड़ गया और कीमतें इतनी ऊँची हो गयीं जितनी सैकड़ों वर्षों से लोगों ने कभी नहीं सुनी थीं। हजारों लोग अपक्षय के कारण मर गये। उपनगरों में लाशों के ढेरों से उत्पन्न हुई सड़ाँध ने सारे शहर में दुर्गन्ध फैला दी। इस विपत्ति के समय कुछ अंग्रेज लोगों ने, जो लखनऊ में निवास कर रहे थे, अकाल-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति असीम सहानुभूति दिखायी। जब तक अकाल चलता रहा, तब तक उन अंग्रेजों में से प्रत्येक ने पाँच सौ या एक हजार असहाय व्यक्तियों को भोजन एवं स्वास्थ्य चिकित्सा प्रदान की, और फिर उनको घर भेज दिया। गवर्नर हेस्टिंग्स के आदेश

से हैदरबेग रोज़ाना एक हजार रुपया अशक्त पीड़ितों में बाँटने के लिए दिया करता था। किन्तु चूँकि बाँटने वाले लोग अति कंजूस आदमी थे, जरूरतमंद दास गुलाम (अर्थात् हिन्दू) थे, और हैदरबेग की सैनिक टुकड़ियों के नेता थे, वे अमानत में खयानत करते थे। वे कुल धन में से आधा तो स्वयं ही हड़प कर जाया करते थे। और उस धन-वितरण के समय वे इतनी अधिक अव्यवस्था होने देते थे कि सहायता के याचक आवेदकों के सिरों, हाथों और अन्य शारीरिक अवयवों में चोटें लग जाती थीं। इतना ही नहीं, आपा-धापी में तो अनेक जानें भी सचमुच चली जाती थीं। इसके अतिरिक्त, यदि भीड़-भाड़ में उनको कोई ऐसी जवान लड़की दीखती जो अच्छी तरह बोल पाती और जिसकी बोली सुखद होती, तो वे लोग उसको हैदरबेग के हरम में पहुँचा देने में बहुत जल्दी करते थे, और वास्तविकता तो यह है कि हैदरबेग खान की अधिकांश सन्तानें ऐसी ही लड़कियों से उत्पन्न हैं। हैदरबेग खान अपने व्यावसायिक जीवन के प्रारम्भिक से ही इस प्रकार धन-वितरण किया करता था कि गरीब लोगों के हाथ, पैर और सिर टूट जाया करते थे।"[१९]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आसफ़उद्दौला के दरबार के अति कृपण और व्यभिचारी कर्मचारी लोगों को सहायता देने के स्थान पर स्वयं अपनी ही पेटपूर्ति करते थे और जनता की शोचनीय स्थिति पर, मानव गिद्धों की भाँति, उनकी बेटियों-पत्नियों का अपहरण और शील-भंग करते थे, तथा ब्रिटिश गवर्नर जनरल द्वार मंजूर की गई धनराशि का दुरुपयोग करते थे।

इस प्रकार, इमामबाड़े के काल्पनिक निर्माण के लिए, सामान्यतः प्रस्तुत किया जाने वाला अकाल-राहत औचित्य एक क्रूर घोटाला ही निकलता है। इस क्रूर घोटाले का अभी तक ज्ञात न होना मध्यकालीन मुस्लिम इतिहास में अभी तक किए गए तथाकथित अनुसंधान की निरर्थकता और खोखलापन सिद्ध करता है।

इस प्रकार, अत्यन्त सौम्यरूप में, उदात्त-भावनावश निर्मित मुस्लिम भवन की कथा एक बहुत बड़ा उपहास प्रगट होता है। स्वयं इसकी निर्माण-अवधि भी ज्ञात नहीं है। जबकि लगभग सभी इतिहास लेखक उल्लेख करते है कि सन् १७८४ ई० में इमामबाड़ा बना था, केवल अबू तालिब कहते है कि सन्

---

१९. तफ़्ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन, पृष्ठ ७८।

१७९०-९१ ई० के मध्य पूरा हुआ था—चाहे उसका अर्थ जो भी हो। इन दोनो वर्गों में विभक्त ये सभी लेखक इस इमामबाड़े के मूलोद्गम के सम्बन्ध में सम्पूर्ण विश्व को धोखा देते रहे है, जबकि वास्तव में यह तथाकथित 'बड़ा इमामबाड़ा' रामायणकाल से मुस्लिम आक्रमणों के दिनों तक लखनऊ के हिन्दू शासकों के प्राचीन मत्स्य-भवन मन्दिर-राजप्रासाद संकुल से न कुछ कम है और न कुछ अधिक।

७

तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़ा

पूर्व अध्याय में यह देख लेने के बाद कि किस प्रकार तथाकथित महान इमामबाड़ा एक महान प्राचीन हिन्दू मन्दिर-राजप्रासाद संकुल ही निकलता है, आइए हम अब उस तथाकथित छोटे इमामबाड़े के बारे में साक्ष्य का अध्ययन करें जिसे हुसैनाबादी इमामबाड़ा कहकर पुकारा जाता है। एकवचन की सूचक इमामबाड़ा शब्दावली स्वयं भ्रामक है क्योंकि यह स्वयं एक ही भवन न होकर अनेक भवनों का समूह है। स्वयं इमामबाड़ा शब्दावली भी अन्य विचार से भ्रामक है अर्थात् 'बाड़' प्रत्यय इस बात का सूचक है कि कोई निवास-स्थान है, जबकि हमें मालूम है कि यह इमामबाड़े खेद-सूचक, अशुभ शव-स्थान हैं। इस प्रकार की भयावह विपरीतता भरतीय इतिहास के मुस्लिम युग में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रही है क्योंकि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अन्ततोगत्वा इस आशंका से सभी विजित हिन्दू भवनों को शव-स्थानों में परिवर्तित कर दिया था कि यदि उन भवनों को इस्लामी कब्रों से नहीं भर दिया गया तो सरकार अथवा जनता किसी सार्वजनिक प्रयोग के लिए उन भवनों को हथिया लेगी और इस्लाम के लिए वे भवन सदैव के लिए लुप्त हो जाएँगे। इसलिए, जबकि निवास-स्थाना के रूप में उन भवनों के अति प्राचीन एवं सु-प्रयुक्त नाम अभी भी प्रचलित चले आते हैं, हम देखते है कि वे कब्रों, मकबरों में बदल चुके है, चाहे वे कब्रें सच्ची हों अथवा झूठी। इसका एक विशिष्ट दृष्टान्त सुप्रसिद्ध ताजमहल का है। इसका अन्त्यशब्द 'महल' भी इस बात का द्योतक है कि यह एक भवन है, किन्तु आजकल दर्शक इसको मकबरा समझकर ही उसे देखते हैं। यह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि भारत में विदेशी मुस्लिम शासन की कई शताब्दियों के कालखण्ड में विजित हिन्दू भवन, अन्त में मकबरों में परिवर्तित हो गए थे।

तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़ा बड़े इमामबाड़े के पश्चिम में कुछ फर्लांग की दूरी पर स्थित है। ये दोनों मिलकर एक धुरी के चहुँओर निर्मित

एकाकी राजकुलीन हिन्दू मन्दिर-राजप्रासादीय संकुल का रूप प्रस्तुत करते थे। वे दोनों मिलकर लक्ष्मणावटी की प्राचीन हिन्दूनगरी के मध्य भाग में निर्मित राजकुलीन हिन्दू दुर्ग का रूप प्रस्तुत करते थे। जबकि नगरी स्वयं एक भारी मोर्चे वाली दीवार से सुरक्षित थी। आज शब्दाडम्बर में 'इमामबाड़े' के नाम से पुकारा जाने वाला दुर्ग एवं राजमहल-संकुल भी चारों ओर से एक सुरक्षात्मक दीवार में घिरा हुआ था। इसकी बुर्जें परम्परागत हिन्दू अष्टकोणीय आकार की थीं। इस तथ्य का सुनिश्चय आज भी स्वयं देखकर किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति तथाकथित रूमी दरवाज़े से बाहर निकलकर चलता है और अपनी दाईं तरफ़ तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़े की परिसीमा में पहुँचता है, तब वह एक प्राचीन अष्टकोणीय, कत्थई रंग का हिन्दू बुर्ज अभी भी देख सकता है। वह बुर्ज इस बात का प्रभावशाली, सजीव प्रमाण है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने तथाकथित इमामबाड़ा हिन्दू मन्दिर-राजभवन संकुल इसकी प्राचीर-युक्त सुरक्षात्मक परिधि को तोड़कर ही अपने अधीन कर लिया था।

यह प्रचलित धारणा ठीक नहीं है कि छोटे इमामबाड़े-संकुल का निर्माण आसफ़उद्दौला से कुछ पीढ़ियों बाद वाले एक नवाब ने करवाया था। यह हो सकता है कि कोई परवर्ती नवाब वहाँ दफ़नाया पड़ा हो, किन्तु इस बात का यह अर्थ बिल्कुल भी नहीं है कि इस भवन का मूल-निर्माण उस नवाब के मकबरे के रूप में किया गया था—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बड़ा इमामबाड़ा आसफ़उद्दौला द्वारा नहीं बनवाया गया था, यद्यपि विश्वास किया जाता है कि वह वहीं दफ़नाया गया है। जो व्यक्ति जिस भवन में दफ़नाया गया हो, उसी व्यक्ति को उस भवन का निर्माण-यश देना मध्यकालीन भारतीय इतिहास का सामान्य षड्यन्त्र एवं दोष सिद्ध हुआ है। उन भवनों के दर्शकों और इतिहास लेखकों को इस धारणा में फांस देने का कारण यह है कि झूठी कब्रों के निर्माण अथवा दफ़नाने के बाद पर्याप्त समय तक मुस्लिम कल्पित-कथाएं प्रचारित, प्रसारित होती रहीं।

इन दोनों इमामबाड़ों में एक सुस्पष्ट, सुनिश्चित प्राचीन सम्पर्क होना मत्स्य चिह्न से भी सिद्ध है, प्रमाणित है। नोकदार धातुखण्ड पर बनी, जुड़ी हुई एक अति-दीर्घाकार स्वर्णिम मत्स्याकृति इस तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़े पर ऊँची टँगी हुई है। इस्लाम का तिरस्कार करने वाला यह मुर्तीपूजक प्रतीक-चिह्न वहाँ नहीं होना चाहिए था यदि वह भवन मूलतः इस्लामी मकबरा था। 'काफ़िरों' द्वारा

स्थापित किए गए एक नास्तिक प्रतीक की छत्रछाया में तो इस्लामी आत्मा अति बेचैन, उद्विग्न, दफ़न हुई पड़ी रहती। किन्तु पर्याप्त विचित्रता यह है कि इस्लामी अभ्यास में, जब किसी 'विश्वासी' की आत्मा विजित 'काफ़िर' की सम्पत्ति में अथवा विजित, हथियाए गए प्रतीक की छाया में दफ़नायी गई हो, तो वह असीम असहाय, असाधारण आनन्द की अनुभूति करती है क्योंकि विजयोपरान्त सभी 'काफ़राना' प्रतीक एवं सम्पत्ति तुरन्त 'हलाल' (अर्थात् अत्यधिक पुनीत और ग्राह्य) हो जाती है। यही कारण है कि अकबर और हुमायूँ, अब्दुल रहीम खानखाना और एतमाद्उद्दौला दरबारी, तथा मोइनुद्दीन चिश्ती, नसीरुद्दीन चिराग, सलीम चिश्ती व निज़ामुद्दीन उन भवनों में निश्चित सोए पड़े—दफ़न हुए पड़े हैं जिनके द्वारों पर हिन्दू प्रस्तर-पुष्प चिह्न हैं, जिनके गुम्बदों पर पुष्पाच्छादित हैं, जिनकी आन्तरिक छतों पर पुष्पीय-नमूने बने हैं और जिनकी दीवारों पर शक्ति-चक्र (अर्थात् परस्पर-गुंफित त्रिकोण अर्थात् सुलेमान-तारक) उत्कीर्ण हैं।

छोटे इमामबाड़े के सम्बन्ध में, अवध के गजिटियर में लिखा है :

"नसीरुद्दीन हैदर के चाचा (सन् १८३७ ई०), मुहम्मद अली शाह ने स्वयं को दफ़न करने के स्थान—मकबरे के रूप में यह शानदार हुसैनाबादी इमामबाड़ा बनवाया था; इसमें दो लम्बे बाड़े हैं जो एक दूसरे के समकोण पर स्थित है।"[1]

उपर्युक्त टिप्पणी स्पष्टतया मात्र इस्लामी कानाफूसी पर ही आधारित है क्योंकि इसमें किसी भी दस्तावेज अथवा प्राधिकरण का उल्लेख नहीं है और न ही इसमे उस प्रत्यक्ष व्यक्ति के बारे में कोई विवरण दिया गया है जो स्वयं अपनी ही मृत्यु के प्रति अत्यधिक मुग्ध था और अपने मृत-पिण्ड को शरण देने के लिए विशाल निर्माण करने हेतु अपार धनराशि पानी की तरह बहाने को आतुर था। भारत में एक मुस्लिम सुल्तान के बाद दूसरे सुल्तान और एक दरबारी के बाद दूसरे दरबारी द्वारा स्वयं को अपने लिए अथवा अन्य किसी के लिए कल्पनातीत मकबरा बनवाने का यह उपहासास्पद पाखण्ड प्रवंच्य, भोली-भाली जनता पर बहुत लम्बे समय तक और बहुत बार सफल होता रहा है। हम अब आग्रह-पूर्वक अनुरोध करना चाहते है कि ऐसे पाखण्डपूर्ण षड्यन्त्रों को अब, समूल नष्ट कर

१. अवध प्रान्त का गज़िटियर, खण्ड II, पृष्ठ ३७२।

देना आवश्यक है। इतिहास लेखकों और ऐतिहासिक-स्थलों के दर्शकों को पाषाण-हृदय और क्रूर, निर्दयी मुस्लिम विजेताओं व आक्रमणकारियों को इतना निर्बुद्धि और अज्ञानी नहीं समझना चाहिए कि वे शोक-सूचक और निरर्थक मकबरों पर धन का अपव्यय करते जबकि सार्वजनिक नरमेधों और व्यक्तिगत हत्याकाण्डों द्वारा हथियाई गई विशाल धनराशि के अनेक आवश्यक ऐश्वर्यशाली और परमोल्लासजनक उपयोग उनके लिए शेष थे।

क्या कभी किसी ने यह जानने का यत्न किया है कि मुहम्मदअली शाह को कितना धन पैतृक रूप में मिला था, उसका दैनंदिन खर्च कितना था, उसने उस तथाकथित इमामबाड़े पर कितना धन व्यय किया था, उस काल्पनिक मकबरे के निर्माण में कितने वर्ष लगे थे, इसका वास्तुकलाकार कौन था और उसने क्या-क्या मानचित्र प्रस्तुत किए थे? तथ्यतः तो किसी मकबरे के लिए वैसे मानचित्रों की तो आवश्यकता ही नहीं है जैसे निवास-स्थानों में बैठक, भोजन-कक्ष, शयन-कक्ष, स्नान-घर, छतों और बरामदों के मानचित्रों की आवश्यकता होती है। मुहम्मद अली शाह को अपनी कब्र के लिए इतने विशाल भवन की क्या आवश्यकता थी? और उसके मकबरे के ऊपर नोकदार धातुखण्ड में सुनहरी मछली क्यों लहरा रही है? क्या उसकी पत्नियाँ और उसके बच्चे पिता की उस कैटुम्बिक विशिष्टता को देखकर हँसे अथवा रोए नहीं थे जिसके अन्तर्गत पिता अपनी भावी मृत्यु का आभास अनुभव कर रहा था और उस परियोजना पर अन्धाधुंध धन व्यय करने की बात सोच रहा था? ऐसी अव्यावहारिक परियोजना से उत्पन्न होने वाली बेहूदगियों पर समग्र रूप में किसी व्यक्ति ने विचार किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। ऐसी परियोजना का निर्माण श्रेय उसे देना तो मुहम्मदअली शाह और उसके परिवार की संस्कारित बुद्धिमत्ता का सरासर अपमान, तिरस्कार करना है। किन्तु सभी अपहृत ऐतिहासिक हिन्दू भवनों का निर्माण श्रेय किसी भी मुस्लिम को दे देने की आतुरता और चिन्ता में अवध के नवाबों के दरबारी चाटुकारों ने सभी सतर्कताओं, सावधानियों को तिलांजलि दे दी। इस प्रकार की उग्रवादी, मनघड़न्त कथाओं को प्रचारित, प्रसारित करने वाले ऐरा-गैरा नत्थू खैरा लोगों के पास इतना समय अथवा ज्ञान नहीं था कि वे अपनी स्व-रचित कथाओं के युक्तियुक्त परिणामों का विचार कर सकते। इस प्रकार के मनगढ़न्त, काल्पनिक वर्णनों के रचनाकारों को यह श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि वे भारत पर आंग्ल-

इस्लामी शासन की सात शताब्दियों की सम्पूर्ण अवधि में भरत के ऐतिहासिक भवनों के बारे में विश्व भर के बुद्धि-जीवियों को मूर्ख बनाने में सफल हुए हैं।

इस गज़िटियर में कुछ अन्य बेहूदगियाँ भी अंकित हैं। इसमें कहा गया है कि, ''हुसैनाबादी इमामबाड़ के साथ-साथ मुहम्मद अली शाह ने एक विशाल तालाब भी बनवाया था''' और थोड़ी-सी दूरी पर एक मस्जिद का निर्माण प्रारम्भ करवाया था''' इसका प्रयोजन दिल्ली-स्थित जामा मस्जिद के आकार को मात करना था, किन्तु वह इसे पूरा करने के लिए जीवित ही नहीं रह पाया।'' यह बात समझ में नहीं आती कि ब्रिटिश राज्य की नित्य वर्धमान शक्ति के कारण जब लखनऊ के नवाबों का धन-वैभव और सामर्थ्य अति द्रुतगति से समाप्त होता जा रहा था, उन दिनों में सभी उपहासास्पद परियोजनाओं को कोई व्यक्ति प्रारम्भ करे। किसी व्यक्ति से आगे बढ़ जाने, किसी पूर्व युग की बात को पीछे छोड़ देने अथवा एक मस्जिद या मकबरा बनवाने के अज्ञात भविष्य के प्रति मध्यकालीन विदेशी मुस्लिमों की यह प्रवृत्ति तिथिवृत्त लेखन का सबसे ऊट-पटाँग और बेहूदा पक्ष है। मुहम्मद अली शाह द्वारा दिल्ली-स्थित तथाकथित जामा-मस्जिद से अधिक विशाल, भव्य मस्जिद बनवाना तो दूर, यह ध्यान रखने की बात है कि आक्रमणकारी तैमूरलंग के अनुसार वह देवालय स्वयं ही एक हिन्दू मन्दिर था।

भारत सरकार की एक पुस्तिका में अंकित है, ''छोटा इमामबाड़ा एक परवर्ती और अधिक अलंकृत इमामबाड़ा है जिसको नवाब मुहम्मद अली शाह ७३ द्वारा बनवाया गया था।''[२] पाठक देख सकता है कि उपर्युक्त कथन में अपनी धारणा के पक्ष में किसी आधिकारिता का उल्लेख नहीं किया गया है। किसी भी व्यक्ति को किसी बात का श्रेय देने से पूर्व सामान्यतः इतिहासकार लोग अविवादेय प्रमाण के आग्रही होते है किन्तु भारतीय मध्यकालीन इतिहास में तथाकथित इतिहासकारों ने अपने मत के पक्षपोषण में किसी भी प्रकार का प्रमाण प्रस्तुत किए बिना ही अपने अखाड़े जमा रखे हैं। विदेशी इस्लामी आक्रमणकारियों को भवनों के निर्माण का श्रेय प्रदान करते हुए साक्ष्य के अभाव की कालिमा को दृष्टि से ओझल करने के इस अव्यावसायिक अभ्यास और जानबूझकर की गई गलती की कटुतम शब्दों में निन्दा, भर्त्सना की जानी चाहिए।

२. लखनऊ (भारत सरकार, परिवहन मन्त्रालय, पर्यटक यातायात शाखा की ओर से जारी), पृष्ठ ७।

एक अंग्रेज इतिहासकार ने पर्यवेक्षण किया है, "छोटा (हुसैनाबादी) इमामबाड़ा अन्तिम दो नवाबों से पूर्व हुए मुहम्मद अली शाहका निर्माण-कार्य है। यह प्रारम्भ में बारह लाख रुपयों की वृत्ति प्रदान करता था और संस्थापक का मकबरा भी बना हुआ था। साथ ही यह शीशों और प्रभामय लावण्य आदि का विशाल संग्रहालय भी था।"[३]

यह लेखक भी किसी प्राधिकारी का उल्लेख नहीं करता है, क्योंकि अन्य लोगों की ही भाँति यह भी कही-सुनी बात को ही दोहरा रहा है। किन्तु उसका पर्यवेक्षण इस दावे की असत्यता, झूठ का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हमें उपलब्ध कराने में अत्यन्त सहायक, उपयोगी है। यदि छोटा इमामबाड़ा इसके निर्माता का मकबरा ही होना अभीष्ट था, तो क्या कारण है कि यह शीशों और प्रभामय लावण्य का भण्डार-घर भी बन गया। इस प्रकार का उपयोग तो पवित्र-स्थान का अपवित्रीकरण और देशद्रोह भी है। यह इस बात का द्योतक है कि दफ़नाने की कथा पाखण्ड-मात्र है अथवा यदि मुहम्मद अली शाह का वहाँ दफ़नाया जाना तथ्य है, तो वह एक ऐसे पूर्वकालिक राजमहल में दफ़न किया हुआ है जो शीशों और अन्य प्रभामय लावण्य-सामग्री से जाज्वल्यमान जगमगाता रहता था। और, चूँकि किसी भी लेखक ने यह दावा नहीं किया है कि वह इमामबाड़ा कभी, किसी समय शाही मुस्लिम राजमहल रहा था, इसलिए इस राजमहल के सम्बन्ध में उनकी स्वयं की यह टिप्पणी, कि शीशों और प्रभामय लावण्य से सुसज्जित यह अत्यधिक अलंकृत भवन था, इस तथ्य का प्रबल साक्ष्य है कि यह एक पूर्वकालिक हिन्दू राजभवन था जिसमें सच्ची या झूठी इस्लामी कब्रें ठूँस दी गयीं, बना दी गयीं, ताकि इसको राज्य द्वारा अधिग्रहीत न किया जा सके।

यही लेखक हमें आगे चलकर बताता है कि, "छोटे इमामबाड़े के नाम से पुकारे जाने वाले भवन के मुख्य महाकक्ष में स्तम्भ-दर्पण, दीपाधार (झाड़-फ़ानूस), ताजिए और अन्य चमकते, जगमगाते आभूषण, भड़कीले खिलौने आदि थे। इसका फ़र्श अत्यन्त चमचमाते संगमरमर का बना है, और गुम्बद के नीचे की भीतरी छत महराबदार है। इसके एक ओर एक भवन स्थित है जो अनुमान किया जाता है कि आगरा के ताजमहल की नकल पर बनवाया जा रहा था।"

३. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६१।

ऐसी आडम्बरपूर्ण सज्जा-सामग्री एवं स्थावर-सम्पत्ति से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि बड़े इमामबाड़े की तरह ही, यह छोटा इमामबाड़ा भी लखनऊ के हिन्दू शासकों का राजकुलीय राजमहल-संकुल है। छोटा इमामबाड़ा सफ़ेदी से पूरी तरह पोत दिया गया है। यह सफ़ेदी की पुताई रचना की समृद्ध शैली से बिल्कुल पृथक्, अलग प्रकार की है। स्पष्ट है कि ऐतिहासिक हिन्दू भवनों की आलंकारिक साज-सज्जा सामग्री को छुपाने और विद्रूप करने के लिए सफ़ेदी की पुताई की एक लम्बी इस्लामी परम्परा है।

'लखनऊ-एलबम' नाम से पुकारी जाने वाली पुस्तक में लिखा है कि, "छोटे इमामबाड़े में मुहम्मद अली शाह की माता के अवशेष भी रखे हैं।"[४] भारतीय मध्यकालीन इतिहास के विद्यार्थियों को रहस्य-सूचक इस तथ्य को भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए कि जिन भवनों के बारे में ऐसा विचार किया जाता है कि उनका निर्माण कृपालु बादशाहों, नवाबों और दरबारियों के अतिव्ययी, भव्य मकबरों के रूप में अति सावधानीपूर्वक किया गया था, उन्हीं भवनों में अन्य कब्रें भी बनी हुई हैं, उनका जमघट लगा हुआ है। यदि वे भवन वास्तविक, मूल मकबरे ही बने होते, जिनका निर्माण शाही इस्लामी ख़ज़ाने से दी गयी धनराशि के खर्चे पर किया गया होता, तो उनमें इस सब का खर्चा देने वाले महानुभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की कब्र न होती, और उसे ख़राब लकड़ी रखने के कमरे और रेल के पार्सलों के गोदामों जैसी कब्रों से न भर दिया गया होता। अन्ततोगत्वा, यदि मुस्लिम आक्रमणकारियों को विशाल मकबरों के निर्माण की आदत थी, तो एक ही भवन में कई कब्रें ठूँस देने के स्थान पर, हमें प्रत्येक शहज़ादे व उसके वंशज के लिए पृथक्-पृथक विशेष मकबरा उपलब्ध होना चाहिए था।

एक अन्य लेखक हिल्टन ने पर्यवेक्षण किया है कि तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़े का चतुष्कोण "पश्चिम दिशा में आगरा के ताज के बुरे नमूने की भीड़-भाड़ से कुछ-कुछ विद्रूप हो गया है। (जिसमें मुहम्मद अली शाह की बेटी दफ़नाई हुई है), और पूर्व-दिशा में उसी आकार का एक अन्य भवन है। ताज के दायीं ओर, एक छोटी मस्जिद है जो दिवंगत शाही खानदान के अवशिष्ट

४. 'लखनऊ-एलबम', पृष्ठ ५२।

उत्तराधिकारियों और परवर्तियों के उपयोग-मात्र के लिए ही है।''[५]

इस प्रकार, असावधान-अनभिज्ञ पाठक की कल्पना में हुसैनाबादी इमामबाड़े की शब्दावली से जो एकाकी-भवन का रूप चित्रित होता है, वह एक भवन न होकर चार भवनों का समूह है। एक विशाल खुले चतुष्कोण के आगे की ओर वह शीशों का महाकक्ष है जिसमें मुहम्मद अली शाह दफ़नाया गया विचार किया जाता है। पश्चिम की दिशा में एक अन्य भवन है जिसका मानचित्र ताजमहल के मानचित्र के समान है और जिसमें मुहम्मद अली की बेटी दफ़नाई हुई है। इसी के निकट एक छोटा भवन है जिसे मस्जिद कहा जाता है। इसी की दूसरी ओर एक लम्बा भवन भी है। यदि यह विश्वास किया जाता है कि मुहम्मद अली ने अपने मकबरे के रूप में शीशों वाला महाकक्ष बनवाया था, तो इस्लामी परम्परा अन्य तीन भवनों के औचित्य और निर्माण-स्वामित्त्व पर चुप्पी साधे हुए है। ये सभी चारों भवन हुसैनाबादी इमामबाड़े के एक सामूहिक पदनाम से किस प्रकार सम्बोधित किए जा सकते हैं? और, इस विशाल व्यर्थ धनराशि का भुगतान किसने किया?

५. लखनऊ के लिए पर्यटक-मार्गदर्शिका, पृष्ठ १८७।

८

तथाकथित इमामबाड़ों के हिन्दू लक्षण

तथाकथित बड़ा इमामबाड़ा अतिशय लम्बा भवन-संकुल है। फिर भी, किसी मकबरे का भ्रमण करने के विचार से सम्मोहित सामान्य दर्शक अपने चारों ओर विद्यमान सैकड़ों कमरों और बीसियों छतों, बरामदों, छज्जों व बड़े-बड़े महाकक्षों—की उपेक्षा करता प्रतीत होता है।

नवाब आसफ़उद्दौला का एक कर्मचारी अबू तालिब हमें बताता है कि बड़ा इमामबाड़ा ''दो बड़े-बड़े कमरों—महाकक्षों—और एक छज्जे व महाराब से ढके हुए—छत्रमार्गों से युक्त है। कमरों—महाकक्षों की लम्बई ६० गज़ और चौड़ाई ३० गज़ है। इसके सामने एक बहुत चौड़ी छत है, और इसके बीच में एक जलकुण्ड है। एक लम्बा प्रांगण है और किनारों पर एक ऊँची मस्जिद और इसी के अनुरूप नौकरों-चाकरों के रहने के मकान हैं। इमामबाड़े के सामने 'त्रिपोलिया' के समान एक ऊँचा द्वार है और इसके पास ही दो या तीन सुविस्तृत जिलोखाने हैं।''[१]

यदि इमामबाड़ा आसफ़उद्दौला के मकबरे के प्रयोजन से ही बना था, तो इसमें दो महाकक्ष—विशाल कमरे—एक जलकुण्ड, छतें, छज्जे, छत्रमार्ग और इन सबसे भी अधिक जिलोखा ने—अर्थात् आनन्द-निकेतन क्यों है? त्रिपोलिया अनिवार्य रूप में हिन्दू त्रिकोणी द्वार है। प्राचीन हिन्दू भवनों में तीन महराबों वाला द्वारा अवश्य हुआ करता था। फतहपुर सीकरी और अहमदाबाद नगरों को हमारे पूर्व प्रकाशन में हिन्दू मूलक सिद्ध किया ही जा चुका है। फतहपुर सीकरी का तथाकथित बुलन्द दरवाज़ा और अहमदाबाद नगर के मध्य क्षेत्र में स्थित दरवाज़ा—ऐसे ही द्वार है जो तीन महराबों वाले हैं।

'भारतीय और पूर्वी वास्तुकला' शीर्षक पुस्तक के रचयिता जेम्स फ़र्ग्युसन को, भारत में ब्रिटिश राज्य के दिनों में ऐतिहासिक भवनों के सम्बन्ध में विशेषज्ञ,

१. तफ़्ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन, पृष्ठ ९२-९३।

अधिकारी व्यक्ति समझा जाता था। अतीत-पर्यालोचना से जैसा हमें ज्ञात होता है, उसकी प्रसिद्धि विषयगत गुणों पर किसी भी प्रकार आधारित नहीं थी। भारत में ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत बहुत ही थोड़े व्यक्तियों ने प्राचीन अथवा मध्यकालीन भारतीय वास्तुकला जैसे विशिष्ट विषयों पर पुस्तकें लिखी थीं। और जिन थोड़े से व्यक्तियों ने बृहदाकार ग्रन्थ लिखे, उनको उन विषयों के अधिकारी व्यक्तियों के आसन पर सुशोभित कर दिया गया क्योंकि उनका सम्बन्ध शासनकर्त्ता जाति से था। जेम्स फ़र्ग्युसन एक ऐसा ही व्यक्ति है। हम उसकी ऐसी कटु आलोचना करने पर विवश हो रहे हैं क्योंकि हमने बारम्बार देखा है कि उसके निष्कर्ष निराधाकार कल्पनाओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए, उसने दिल्ली में तथाकथित कुतुबमीनार से चार मील दूर स्थित भवन को (जिसे शब्दाडम्बर में 'सुल्तानग़ारी' कहते हैं) अत्यन्त सरल, सहज भाव से भारत में सर्वप्रथम मुस्लिम मकबरा घोषित कर दिया है यद्यपि इसकी भीतरी छत पर एक संस्कृत शिलालेख था ओर इसके कई द्वारप्रकाष्ठों (लिंटलों) पर जंगली शूकर और गौ का राजकुलीन हिन्दू राजचिह्न स्थूलाकृति में उत्कीर्ण था। फ़र्ग्युसन सुल्तान ग़ारी के नाम से और उस भवन के केन्द्रीय भाग में कब्र जैसी एक मृद्राशि-समूह की विद्यमानता से ही दिशा-भ्रमित हो गया था। एक विदेशी, ब्रिटिश व्यक्ति होने के कारण फ़र्ग्युसन को भारतीय इतिहास में वह आवश्यक अन्तर्दृष्टि प्राप्त न थी जिससे यह अनुभूति हो पाती कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों ने विजित हिन्दू भवनों से हिन्दू चिह्नों को दृष्टि-ओझल करने और उनको भ्रष्ट बनाने के लिए कितने क़हर ढाए थे। फ़र्ग्युसन की उपर्युक्त सम्पूर्ण पुस्तक, यद्यपि महान् विद्वान के रूप में लिखी गई है, भयंकर त्रुटि-समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि उसने इस पुस्तक के सभी पृष्ठों में हिन्दू भवनों को मुस्लिम भवन मानकर, जैसा वह समझ सका, मुस्लिम-वास्तुकला की विशिष्टताओं पर, अतिशय भाषण दे डाला है।

वह, लखनऊ में तथाकथित बड़े इमामबाड़े के बारे में भी उसी वैचारिक दोष का अपराधी है। अन्य सभी लेखकों के समान ही फ़र्ग्युसन की धारणा है कि "इमामबाड़े का निर्माण चौथे नवाब आसफ़उद्दौला द्वारा सन् १७८४ ई० के अकाल के समय अकाल-राहत कार्य की परियोजना के रूप में करवाया गया था।"[२]

फ़र्ग्युसन लिखता है, "इमामबाड़े के प्रत्येक कोने, छोर पर एक

२. 'भारतीय और पूर्वी वास्तुकला का इतिहास', भाग II, पृष्ठ ३२८।

अष्टकोणात्मक भाग है जिसका व्यास ५३ फीट है।" जैसा कि उसे अनुचित श्रेय दिया जा रहा है, यदि फ़र्ग्युसन ने सचमुच ही भारतीय वास्तुकला के अध्ययन में निपुणता प्राप्त की होती, तो उसने अष्टकोणात्मक भाग से तुरन्त ही यह निष्कर्ष निकाल लिया होता कि इमामबाड़ा एक पूर्वकालिक हिन्दू राजमहल है। सभी प्राचीन हिन्दू राजभवनों (अथवा भवनों) में ऐसे अष्टकोणात्मक लक्षण विद्यमान होते थे।

इमामबाड़े की ऊपरी मंजिल पर कमरों की एक भूल-भूलैया है। कुछ ऊँचे और कुछ नीचे धरातल पर बने इन कमरों की जटिलता इतनी दुर्बोधक है कि मुस्लिम विजेता लोग ऊपरी मंजिल को 'भूल-भुलैया' के नाम से पुकारे बिना नहीं रह सके। यदि इमामबाड़ा अकाल के तहत राहत-परियोजना के रूप में अथवा ताजियों के भण्डार-घर के रूप में अथवा एक मकबरे के रूप में निर्माण किया गया था, तो इसमें बीसियों कमरों की आह्लादकारी भूल-भुलैया नहीं होनी चाहिए थी। केवल राजभवन-संकुल में ही इतने सारे कमरों की कोई आवश्यकता हो सकती थी। इस्लामी कपट-कथा से सम्मोहित दर्शकगण प्रायः इन कमरों को मात्र वे भाग मसझ लेते हैं जो भवन-संरचना का सन्तुलन बनाए रखने के लिए निर्मित होते हैं। ऐसे सहज-साध्य स्पष्टीकरण के प्रति विश्वास करने के विरुद्ध हम दर्शकों को सावधान करना चाहते हैं। ऊपरी मंजिल कमरों से भरी पड़ी है। वे रिक्त और द्वारों से हीन मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनकी सभी स्थावर-वस्तुओं को मुस्लिम- विजयोपरान्त लूट लिया गया था। यह बात भारत में सभी भवनों के साथ घटित हुई है। हमने ऊपर जिन आँग्ल-इस्लामी वर्णनों को उद्धृत किया है, उनमें भी स्वीकार किया गया है कि तथाकथित इमामबाड़े अति सम्पन्न रूप में अलंकृत और सज्जा-सामग्री-युक्त थे। यदि अवध के नवाबों ने सम्पन्न साज-सामग्री और अलंकरणों से उन भवनों को प्रभूषित किया था, तो कोई कारण नहीं था कि वे दो इमामबाड़ा-संकुल आज रिक्त और सफ़ेदी-पुते दिखाई दें। उन भवनों से बहुमूल्य स्थावर-सम्पत्ति लूटने का दुस्साहस कौन कर सकता था जबकि लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य तक लखनऊ के ऊपर नवाबों का शाही प्रभुत्व बना रहा था, और इसके बाद ब्रिटिश लोगों को शान्तिपूर्वक सत्ता सौंप दी गई थी। इतना ही नहीं, भवनों का अलंकरण करने पर इस्लामी परम्परा में नाक-भौं चढ़ायी जाती है। इसके विपरीत इस तथ्य का प्रदर्शन कि मुस्लिम आक्रमणकारी अपने द्वारा विजित प्रदेशों और भवनों की सभी बहुमूल्य वस्तुएँ लूट लेते हैं अभी हाल ही में सन्

१९७१-७२ ई० में उस समय किया गया था जब सन् १९७१ ई० के भारत-पाक युद्ध के समय भारतीय शहीद भगतसिंह का समाधि-स्थल सूचक पंजाब-देवालय पाकिस्तानी आधिपत्य में अस्थायी रूप में चला गया था, तब उस समय इस स्थान का सम्पूर्ण संगमरमर और भगतसिंह और उसके सथियों की कांस्य-मूर्तियाँ लूट ली गई थीं।

इस सन्दर्भ में हम पाठक को इस ओर भी सावधान करना चाहते है कि मुस्लिम शासन के छः सौ वर्षों के कारण तत्कालीन विदेशी प्रशासन का यह स्वभाव हो गया था कि प्रत्येक बात का दोष उन जाट, मराठा, सिख और अन्य पुनरुत्थानशील हिन्दू शक्तियों को दिया जाता था जिन्होंने भारत में मुगल साम्राज्य को प्राणघातक आघात पहुँचाया था। इस प्रकार, आगरा के लालकिले में विशाल महाकक्षों में संगमरमरी मंच में टूट-फूट अथवा सिकन्दरा में, जिसे अकबर का मकबरा समझा जाता है, उस सात-मंजिले राजमहल के रंग-रोगन को विद्रूप करने वाले कुछ धुएँ को देखकर दर्शकों को मार्गदर्शक और अन्य लोग बता देते है कि इस आक्रोश और अपवित्रीकरण के लिए उत्तरदायी तो जाट अथवा मराठों की तोड़-फोड़ ही है। राष्ट्र-द्रोहिता होने के अतिरिक्त यह निराधार मिथ्यापूर्ण अभियोग है। स्वयं मुस्लिम शासन की छः सौ वर्षीय अवधि में दरबारियों और शासकों के भाइयों व बेटों द्वारा विद्रोह—स्थानिक, जातिक रोग हो गए थे। उन दिनो में लूट-पाट तो नित्य का कार्य हो चुका था। जाटों और मराठों द्वारा किसी भी वस्तु को जलाने अथवा तोड़ने-फोड़ने से पूर्व ही, सभी ऐतिहासिक भवनों को मुस्लिम आक्रमणकारियों और विद्रोहियों द्वारा सैकड़ों बार लूटा जा चुका था। यदि मराठों, जाटों और सिखों ने कुछ किया ही था तो वह यह था कि उन्होंने इस लूट-पाट और अपवित्रीकरण को रोक दिया था। इसी तथ्य का एक उत्तम दृष्टान्त भारतीय सेनाओं ने सन् १९७२ ई० में उस समय प्रस्तुत किया था जब वे विजित पाकिस्तनी क्षेत्रों से लौटते समय उन रेल-पटरियों, यातायात नौकाओं और अन्य बहुमूल्य सम्पत्ति को वहीं छोड़ आई थी जिनको अपने ही उपयोग हेतु वे भारत से ही ले गई थी। अतः ऐतिहासिक भवनों के दर्शकों को जाटों और मराठों के विरुद्ध इस मिथ्या आरोप को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए, जो किसी भी भवन में दिखाई देने वाले दोष के लिए जब-तब प्रस्तुत कर दिया जाता है—जो विदेशी मुस्लिम शासन का प्रमाण बन गया था।

तथाकथित इमामबाड़े की ग़ैर-मुस्लिम विशिष्टता के बारे में तो लखनऊ गज़ेटियर भी यह टिप्पणी किए बिना नहीं रह सकता—"यह सत्य है कि इमामबाड़े, दिल्ली और आगरा में सुशोभित मुग़ल वास्तुकला के विशुद्ध उदाहरणों की तुलना, समता नहीं कर सकते।"[३]

उपर्युक्त गज़ेटियर दिल्ली और आगरा के ऐतिहासिक भवनों को मुस्लिमों का बताने पर गलती पर है क्योंकि उनसे सम्बन्धित हमारी पुस्तकों में उनको भी हिन्दू-मूल और रूप-रेखांकन का सिद्ध किया जा चुका है। तथापि जहाँ तक लखनऊ के इमामबाड़े का सम्बन्ध है, गज़ेटियर को भी सन्देह है कि इसकी विशिष्टता ग़ैर-मुस्लिम है।

हम पहले ही पर्यवेक्षण कर चुके है कि तथाकथित रूमी दरवाजे उपनाम राम-द्वार और नक्कारखाने के ऊपर सुशोभित छत्र के अष्टकोणात्मक वितान नितान्त हिन्दू लक्षण हैं। वे इस्लामी परम्परा में अनुपयुक्त है।

कनिंघम के प्रतिवेदन से हमें वह अनुपम सूत्र ज्ञात हो जाता है जिससे स्पष्ट मालूम पड़ जाता है कि विजित हिन्दू संरचनाओं पर किस प्रकार मुस्लिम नाम थोपे जाते रहे थे। फैज़ाबाद उपनाम अयोध्या का वर्णन करते हुए, भारत में ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत भारत के पुरातत्व-सर्वेक्षण के संस्थापक जनरल कनिंघम ने लिखा है—"अयोध्या में अनेक अति पवित्र ब्राह्मणों के मन्दिर हैं, किन्तु वे सब आधुनिक युग के हैं। इसमें तो कोई संशय नहीं हो सकता कि इनमें से अधिकांश मन्दिर उन्हीं स्थानों पर बने हैं जहाँ पर अधिक प्राचीन मन्दिर थे जिनको मुसलमानों ने विनष्ट कर दिया था''' (कुबेर पर्वत के) दक्षिण-पश्चिम में निकट ही एक छोटा कुण्ड है जिसे हिन्दुओं द्वारा गणेश-कुण्ड नाम से सम्बोधित किया जाता है, और मुसलमान जिसको हुसैन कुण्ड अथवा इमाम तालाब कहते है क्योंकि उनके ताजिए प्रतिवर्ष वहीं ठण्डे किए जाते है।"[४]

इस सूत्र से हम निष्कर्ष निकालते है कि चूँकि प्राचीन लखनऊ के राजकुलीन हिन्दू भवन इसके संस्थापक लक्ष्मण के राम के प्रति भ्रातृत्त्व की उदार-भावना के स्मारक थे, इसलिए वे 'राम-बाड़ा' कहलाते थे। मुस्लिम-

---

३. लखनऊ—एक गज़ेटियर, खण्ड ३७, पृष्ठ १५४।
४. कनिंघम का प्रतिवेदन, खण्ड I, पृष्ठ ३२२-२३।

आधिपत्य में उनसे इस्लामी-उपयोग लिया गया और ताज़ियों को जमा करने के भण्डार-घर के रूप में उनका नाम 'इमामबाड़ा' कर दिया गया था, जिसमें 'इमाम' की ध्वनि का प्राचीन हिन्दू नाम 'राम' की ध्वनि से मिलान—साम्य हो जाए।

हम पहले ही उल्लेख कर चुके है कि दोनों इमामबाड़ा-संकुल मत्स्य की आकृतियों से भरे पड़े है, जबकि बड़े इमामबाड़े पर मछली की आकृतियाँ उत्कीर्ण है। मछली की एक विशाल स्वर्णिम प्रतिकृति तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़े पर ऊँची लहरा रही है। राजकुलीन हिन्दू राजचिह्न के रूप में मछली का अतिप्राचीन हिन्दू-मूल विद्यमान है। भारत के दक्षिणी भाग में भी कई शासनकर्त्ता हिन्दू राजवंशों का राजचिह्न मत्स्य ही था। इसी प्रकार की मछली उस भवन पर भी उत्कीर्ण देखी जा सकती है जिसे गुलबर्ग नगर में 'दरगाह बन्दा नवाज़' में परिवर्तित कर दिया गया था। "दरगाह बन्दा नवाज़ हिन्दू मन्दिर है" शीर्षक पुस्तक में पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि उस भवन के अन्दरूनी प्रांगण में रखे हुए प्राचीन प्रस्तर जलाधार में भी मछली की ही आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मुस्लिम फ़कीर जेसूदराज़ बन्दा नवाज़ की दरगाह के शब्दाडम्बरी नाम से अब पुकारे जाने वाले उस भवन में शेरा और हाथी जैसे अन्य प्राचीन हिन्दू राजकुलीन राजचिह्न भी विद्यमान हैं।

मत्स्य सबसे पहला हिन्दू ईश्वर-अवतार भी है। हिन्दू सम्राटों के राज्यारोहण के समय की सभी आवश्यक वस्तुओं में मछली भी सम्मिलित रहती ही है। हिन्दू सम्राटों का कई नदियों और सागरों के जल से अभिषेक किया जाता है तथा मछली न केवल उस सागरीय-संसार का प्रतिनिधित्त्व करती है जिस पर सम्राट् प्रभुत्त्व रखता है अपितु हिन्दू देवगणों के प्रथम अवतार की उपस्थिति का प्रतीक भी बनती है। इसके विपरीत, मूर्ति-पूजक होने के कारण ये सभी आकृतियाँ इस्लाम में तिरस्करणीय है।

सम्भावना है कि हुसैनाबादी इमामबाड़ा-संकुल की दीवारों पर भी मत्स्यकृतियाँ रही हों, किन्तु अपने धार्मिक मूर्ति-विरोधी क्रोध में मूर्ति-भंजकों ने उनको भी मिटा दिया हो। बाद में, इस डर से कि कहीं इस उन्मूलन के कारण सर्वनाश ही न हो जाए, उन्होंने हुसैनाबादी इमामबाड़े के ऊपर मत्स्याकृति का एक स्वर्णारोपित प्रतिबिम्ब ऊँचा लटकवा दिया। इसी इमामबाड़े में बाग के एक प्राचीन राजपूत घोड़े की मूर्ति अभी भी खड़ी हुई है।

अवध प्रान्त में पुरातन-पन्थी हिन्दू और धर्म-परिवर्तित मुस्लिम लोग किसी भी शुभकार्य का श्रीगणेश करते समय दधि और मछली का दर्शन शुभ मानने की प्राचीन हिन्दू पद्धति का आज भी अनुसरण करते है। यदि कोई जीवित मछली उपलब्ध न हो सके, तो किसी सिक्के अथवा चित्र में बनी मछली से भी काम चला लिया जाता है। इस कार्य को विशेष रूप मे पवित्र हिन्दू दशहरा उत्सव के अवसर पर अवश्य सम्पन्न किया जाता है। प्रान्त के प्राचीन हिन्दू शासको ने अपने चाँदी और सोने के सिक्कों पर मत्स्याकृति निरूपित करवायी थी। उस अभ्यास की जड़ें इतनी गहरी और प्राचीन थीं कि इस क्षेत्र के मुस्लिम नवाबों को भी विवश होकर अपने कुछ सिक्कों पर मत्स्याकृति उत्कीर्ण करवानी पड़ी थी। इस सन्दर्भ में मुस्लिमों द्वारा इमामबाड़े में परिवर्तित हिन्दू संस्कृति 'मत्स्य भवन' नाम बोधगम्य है। हिन्दू स्वामी के स्थानीय राजप्रासाद के लिए 'मत्स्य भवन' नाम पर्याप्त रूप में, प्राचीन लखनऊ की हिन्दू राजकुलीन परम्परा में मछली की पवित्रता को प्रमाणित करता है। इसके विपरीत, संस्कृत नाम 'मत्स्य भवन' और उन तथाकथित इमामबाड़ों पर उत्कीर्ण, पोषक मत्स्यकृतियाँ साबित करते है कि यह तथाकथित इमामबाड़े मुस्लिम-निर्मित हो ही नहीं सकते।

एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण हिन्दू चिह्न गाय का है। दर्शक लोग मुस्लिम इमामबाड़े की काल्पनिक कपट-कथा से इतने सम्मोहित रहते है कि वे उस सम्पूर्ण परिसीमा में इस्लामी कब्रों के अतिरिक्त अन्य कुछ देख पाने में असमर्थ रहते है। किन्तु हमें यहाँ इतिहास लेखक कीन उपलब्ध है जो लिखता है—"मुख्य महराब से निकलने पर व्यक्ति को (हुसैनाबादी इमामबाड़े का) एक लम्बा चतुरांगण मिलता है, जिसमें एक लम्बा ऊँचा मंच बना हुआ है, जिसके अन्तिम छोर पर अपने बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय की प्रतिमा बनी हुई है।"[५] वर्तमानकाल में वह गाय-बछड़े की मूर्ति वहाँ नहीं दीखती। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन हिन्दू राजमहलों के प्राचीन हिन्दू चिह्न मुसलमानों ने किस तरह नष्ट किए। हिन्दुओं के लिए गाय और बछड़ा अति पवित्र, श्रद्धा के प्राणी है। हिन्दू दीपावली-पर्व का एक दिन गाय और उसके दूध पीते बछड़े की पूजा के लिए ही निश्चित है। हिन्दू लोग विवाह, राज्यारोहण और अन्त्येष्टि के अवसरों पर, दान में गाय देते है।

---

५. कीन की निर्देशिका, पृष्ठ ६१।

प्रातः भोजन के समय प्रतिदिन गाय को पकाए हुए भोजन का एक भाग खिलाना—गो-ग्रास देना एक पवित्र, अति प्राचीन हिन्दू पद्धति है। भारत में मुस्लिम-आधिपत्य की १००० वर्षीय अवधि में और उसके बाद भी हिन्द-मुस्लिम झगड़ों का मूल कारण हिन्दुओं द्वारा गो-पूजन और मुस्लिमों द्वारा गो-वध का आग्रह रहा है। इन परिस्थितियों में, क्या यह भी कभी कल्पना की जा सकती है कि इस्लामी मकबरों के रूप में निर्मित इन इमामबाड़ों में, जैसाकि भ्रमवश आजकल विश्वास किया जाता है, अपनी ही परिसीमा में किसी ऊँचे मंच पर एक गाय और बछड़े को स्थापित किया जा सकता है? अतः स्पष्ट है कि प्राचीन राजकुलीन हिन्दू राजचिह्न मत्स्य के समान ही गौ और बछड़े का उन हिन्दू राजमहल परिसीमाओं से दृढ़ व अतिप्राचीन साहचर्य था। मुस्लिम आधिपत्य के बाद मुसलमानों को आशंका होना स्वाभाविक था कि गौ-बछड़े की प्रतिमा को यदि नष्ट न कर दिया जाए तो सम्भवतः इमामबाड़ों का हिन्दू स्वामित्व सिद्ध होकर उनका कब्जा हिन्दुओं को देना पड़ेगा।

इस तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़ा-संकुल में एक अन्य अति विस्मयकारक और नितान्त हिन्दू मात्र का चिह्न भी विद्यमान था। हिन्दू राजभवनों और मन्दिरों की पद्धति थी कि उसकी रक्षा, 'यक्ष' नाम की भयप्रेरक दैवी शक्तियों द्वारा की जाती थी। नई दिल्ली में रिज़र्व बैंक के प्रवेश द्वारा पर यक्ष और यक्षिणि की दो विशाल प्रस्तर प्रतिमाएँ सुशोभित हैं। थाई देश की राजधानी बैंकाक में, जहाँ अभी भी हिन्दू परम्पराएँ बनी हुई हैं और उन्हीं का अनुसरण भी किया जाता है, हरित बुद्ध के प्रवेशद्वार की सुरक्षा ऐसी ही अलौकिक शक्ति की दो प्रतिमाओं द्वारा की जाती है। तथाकथित इमामबाड़े में भी इसी प्रकार की प्रतिमाएँ स्थापित थीं। इस तथ्य की साक्षी देते हुए 'लखनऊ-एलबम' में लिखा है—"(हुसैनाबादी इमामबाड़े का) प्रवेश द्वार बाईं ओर है। एक विशाल महाराब-पथ दो अत्यधिक विकराल दिखाई देनेवाली नारसिंही मूर्तियों द्वारा सुरक्षित है। इसी प्रांगण में इमामबाड़ा है जहाँ मुहम्मद अली शाह के अवशेष रखे हुए है।"[६] गाय-बछड़े की मूर्ति जैसे मुसलमानों ने नष्ट कर दी वैसे ही यक्षों की भी कर दी। किन्तु उन मूर्तियों के ऐतिहासिक उल्लेख उन महलों के हिन्दुत्व के

६. लखनऊ एलबम, पृष्ठ ५२।

साक्ष्य है।

हमें आश्चर्य है कि मुस्लिम मकबरों के प्रवेश द्वारों के सामने भयावह नारसिंही मूर्तियाँ कबसे स्थापित होने लगीं? क्या ऐसी ही मूर्तियाँ—लौकिक अथवा अलौकिक—पैग़म्बर मोहम्मद अथवा अन्य मुस्लिम विशिष्ट व्यक्ति के मकबरे के बाहर भी स्थित है? ये यक्ष मूर्तियाँ और गौ व बछड़े की प्रतिमाएँ निर्णायक रूप में सिद्ध कर देती है कि तथाकथित हुसैनाबादी इमामबाड़ा और इसी का ज्येष्ठ सहोदर बड़ा इमामबाड़ा एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर—राजभवन- संकुल ही है।

"लखनऊ एलबम" शीर्षक पुस्तक में लखनऊ के ऐतिहासिक भवनों में से कुछ चित्र संग्रहीत है। बाद में जिसका नाम विंगफील्ड उद्यान (पार्क) कर दिया गया, उसके अन्दर बने प्राचीन मण्डप के चित्र से पूर्णतया स्पष्ट है कि यह भवन पूरी तरह हिन्दू भवन ही है क्योंकि इसका मण्डप उसी नमूने का है जैसा प्राचीन हिन्दू राजमहलों का हुआ करता था अथवा जैसा हिन्दू विवाहों के समय बनवाया जाता था।

तथाकथित कदम रसूल भवन में विश्वास किया जाता है कि एक पत्थर के ऊपर पैग़म्बर के पैर की छाप अंकित है। उस भवन के चित्र से स्पष्ट लक्षित होता है कि इसके ऊपर पुष्पाछादित गुम्बद है। केवल गुम्बदों के शीर्ष पर ही अधोमुख पुष्पीय-नमूना होता है। वह पत्थर पर अंकित चरण भी हिन्दू है क्योंकि हिन्दू ही देव व साधुओं के ऐसे चरणचिह्न पूजते है। इस्लाम में व्यक्ति की या उसके चरण की प्रतिमा बनाना वर्ज्य है।

तथाकथित दरगाह हज़रत अब्बास का चित्र भी दर्शाता है कि यह एक हिन्दू मन्दिर था।

बड़े इमामबाड़े की अष्टकोणात्मक छतरियाँ और इसके पुष्पआच्छादित गुम्बद, जैसे ये चित्र में दिखाई देते है, पूर्णतःहिन्दू लक्षण है।

बड़े इमामबाड़े के पास वाली तथाकथित मस्जिद का चित्र प्रदर्शित करता है कि इसके मूल शिखरों में से किनारे वाले दो शिख़र गायब है। यह मात्र तभी हो सकता था जबकि वह तथाकथित मस्जिद एक मन्दिर हो जिसे मुस्लिम आक्रमण के समय इस पर विजय हेतु ध्वस्त कर दिया गया था। अवशिष्ट मध्य शिखर इस बात का द्योतक है कि वे सब उसी प्रकार पूर्णतःहिन्दू नमूने के थे जैसे सम्पूर्ण भारत में और

उसके बाहर बने हिन्दू मन्दिरों के ऊपर उठते हुए दिखाई देते हैं। वह तथाकथित मस्जिद हिन्दू ईश्वरावतार भगवान राम का रहा होगा—यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि राम के भाई लक्ष्मण से अपना नाम मूलरूप में प्राप्त करने वाले लखनऊ नगर के अनेक मन्दिरों में राम की स्मृति को सजग रखा गया था।

चित्रों की पुस्तक में लिखा है—''संगमरमरी बारादरी (जो अब विंगफ़ील्ड पार्क उपनाम बनारसी बाग में है) किसी समय हज़रत बाग़ का गौरव थी। इसे वहाँ से हटा दिया गया था और उस जगह पुनः बनवाया गया था जहाँ यह अब स्थित है।''[७]

बनारसी बाग शब्दावली और बारादरी नाम स्वयं ही हिन्दू अर्थबोधक हैं। बनारस उपनाम वाराणसी एक सुप्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ केन्द्र है। बाराद्वारी संस्कृत शब्द ही है। यदि इस बाग का पुरातत्त्वीय उत्खनन और जाँच-पड़ताल, खोज-बीन की जाए, तो बहुत सम्भावना है कि प्राचीन लखनऊ उपनाम लक्ष्मणावटी के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हो जाएँ। चाहे वह संगमरमरी बारादरी वहाँ मुस्लिम-पूर्व युगों से रही हो अथवा तथाकथित हज़रतबाग़ से वहाँ लायी गई हो, वह मण्डप पूरी तरह हिन्दू मण्डप है। हज़रतबाग़ शब्दावली से, यद्यपि यह बाहरी, ऊपरी रूप से इस्लामी मालूम पड़ती है, एक राजकुलीन (हिन्दू) उद्यान के द्योतक मूल संस्कृत पदावली का अनुवाद—अर्थ ही समझना चाहिए, क्योंकि ऐतिहासिक लखनऊ में अथवा उसके आस-पास विध्वंस और अपवित्रीकरण के अतिरिक्त कुछ भी इस्लामी नहीं है, जैसा कि हम इस पुस्तक के पूर्व-पृष्ठों में और इसी शृंखला की अपनी अन्य पुस्तकों में सिद्ध कर चुके हैं। तथ्य रूप में तो हम अपने शोध कार्यों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा करते समय दर्शकों को एक अत्यन्त उपयुक्त, सार्थक सूत्र सदा स्मरण रखना चाहिए अर्थात् 'निर्माण सब हिन्दू का है, विनाश सब मुस्लिम द्वारा किया गया है'। वह सत्य पूर्वकालिक शोधकर्ताओं की दृष्टि से अभी तक मात्र इसीलिए ओझल रहा, क्योंकि अभी तक के इतिहास लेखकों ने विनाशकों, विध्वंसकों (जैसा मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों ने स्वयं को चरितार्थ किया है) को निर्माणकर्ता माना और प्रस्तुत किया है।

---

७. लखनऊ एलबम, पृष्ठ १६।

तथाकथित कदम-रसूल के बारे में पुस्तक में उल्लेख है :

''इस बारे में प्रतिवेदन विद्यमान है कि पवित्र पत्थर चुरा लिया गया है, अतः देवालय में श्रद्धा-प्रदर्शन की कोई वस्तु शेष नहीं रही है।''[८] यदि यह सत्य है, तब तो यह एक महान् और पवित्र हिन्दू स्मृति-चिह्न की हानि है क्योंकि हिन्दू मन्दिरों की यह अति सामान्य प्रथा रही है कि देवी-देवताओं और संत-महात्माओं के चरणों की छापों को सँजोएँ और श्रद्धा-पूर्वक उनकी वन्दना करें, जबकि इस्लामी परम्परा में इस प्रकार के कार्य को मूर्ति-पूजक मानते हुए इस पर आक्रोश प्रकट किया जाता है; अतः इनकी विद्यमानता तो स्वयं इस्लाम का अनस्तित्व ही है।

''तारा कोठी वेधशाला के प्रयोजन से थी।''[९] इस पुस्तक में कहा गया है। यदि ऐसा है, तो इसका प्रयोजन अर्थात् नक्षत्रीय पर्यवेक्षण, दोनों ही हिन्दू परम्परा के हैं।

''लाल बारादरी''का नाम उस पत्थर के रंग से पड़ा है जिससे यह बनी है, अथवा जिस पलस्तर से यह ढकी हुई है। इसे अवध का वेस्टमिन्स्टर एबे समझा जा सकता है। यह सिंहासन कक्ष था,राजतिलक कक्ष था और अवध के राजा-महाराजाओं का विशाल दरबार-भवन था। सआदत अली खान के समय से सभी राज्याभिषेक इसी लाल बारादरी के विशाल महाकक्ष में हुए थे।''[१०]

जैसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, बारादरी शब्दावली संस्कृतमूलक है क्योंकि संस्कृत का 'द्वार' शब्द द्वार-मार्ग का द्योतक है। इसी प्रकार, लाल अथवा इसके विभिन्न रूप भगवा और गैरिक रंग हिन्दू रंग हैं। हिन्दू ध्वज भगवाँ रंग के होते हैं। इसी प्रकार , हिन्दू संन्यासीगण भगवे वस्त्र पहनते हैं। अतः, यदि सआदतअली खान से आगे के सभी मुस्लिम शासकों ने स्वयं की ताजपोशी इसी लाल राजतिलक-कक्ष में की थी, तो स्पष्ट है कि वे लोग इस भवन से जुड़ी हुई अति प्राचीन लम्बी हिन्दू परम्परा का अनुसरण, पालन ही कर रहे थे। इस प्रकार, हम निष्कर्ष निकालते हैं कि उस भवन का हिन्दू नाम 'सिंहासन महल' था। सभी प्राचीन हिन्दू राजमहलों और किलों में राजतिलक के लिए ऐसे भवन थे। उदाहरण

---

८. वही, पृष्ठ १८।
९. वही, पृष्ठ २१।
१०. वही, पृष्ठ २१।

के लिए, बीदर के किले में तख्त महल उपनाम सिंहासन महल के प्रवेशद्वार की ऊँची दीवारों पर लगे रंगीन, चमकदार, चौकोर पत्थरों पर प्राचीन राजकुलीन हिन्दू राजचिह्न—सिंह—की विशाल आकृतियाँ अभी भी निरूपित हैं।

पिछले पृष्ठों में किए गए विवेचन से अवध के इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि लखनऊ के अन्दर और उसके आस-पास के सभी ऐतिहासिक स्थान मुस्लिमपूर्व मूल के हैं, और उनका अध्ययन भी यही तथ्य ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। मुस्लिम विजेताओं ने विजित भवनों और स्थानों के मात्र नामों को ही परिवर्तित कर दिया और दरबारी चापलूसों ने झूठी कहानियाँ गढ़कर वह कपट-जाल तैयार कर दिया, भावी पीढ़ियाँ जिसकी असहाय, बेबस शिकार होकर रह गयी हैं।

प्रसंगवश कह दिया जाय तो तथ्य यह है कि जो बात लखनऊ के सम्बन्ध में सत्य है, वही बात अयोध्या उपनाम फ़ैज़ाबाद के सम्बन्ध में भी सत्य है। पर्याप्त आश्चर्यकारी रूप में, अयोध्या और लक्ष्मणावटी उपनाम लखनऊ दोनों ही, हिन्दू परम्परा के अभिन्न, एक-सदृश नमूने प्रकट करते हैं—जैसी उनसे आशा भी की जा सकती थी क्योंकि वे दोनों नगर रामायण के उन दोनों भाई—नायकों से मूलतः प्रारम्भ हुए हैं, जिन्होंने एक-दूसरे के प्रति अनन्य भक्ति, प्रेम का प्रदर्शन किया है। एक-सदृश हिन्दू लक्षण विद्यमान होने का एक विशिष्ट उदाहरण इन दोनों प्राचीन नगरों में त्रिपोलिया दरवाजा और यखपालिया दरवाजा होना है। फ़ैज़ाबाद में जिस ध्वस्त किले और अन्य भवनों का निर्माण-श्रेय मुस्लिम विजेताओं को दिया जाता है, वे सब पूर्वकालिक हिन्दू संरचनाएँ हैं क्योंकि कम-से-कम इसके दो त्रिपोलिया और यखपालिया दरवाजों के नाम संस्कृत पर ही हैं। लखनऊ के तथाकथित इमामबाड़ा-संकुलों में भी ऐसे दो दरवाजे हैं, जैसा हम पहले ही बता चुके हैं। यख अलौकिक शक्ति 'यक्ष' का अपभ्रंश रूप है, जिसका बारम्बार उल्लेख हिन्दू पुराण शास्त्रों में किया गया है।

सीतापुर सहित अयोध्या और लखनऊ अर्थात् लक्ष्मणावटी नगर एक अति प्राचीन, पुण्यदा और ऐतिहासिक नगर-त्रयी का समूह संरचित करते हैं जो रामायण-महाकाव्य के तीन प्रमुख पात्र राम, सीता और लक्ष्मण की स्मृति दिलाते हैं। पूर्व-पृष्ठों में प्रस्तुत किए गए और समीक्षित हुए साक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए इस क्षेत्र के इतिहास और पुरातत्त्व का पुनर्मूल्यांकन अभीष्ट है। दर्शन विलास, छत्र

मंजिल, चौलक्खी, मोतीमहल, शीशमहल जैसी प्राचीन हिन्दू शब्दावली लखनऊ के चारों ओर न जुड़ी रहती यदि मुस्लिम शासकों द्वारा उन भवनों का निर्माण कराया गया होता। मुस्लिम दरबार फ़ारसी भाषा से अति निष्ठापूर्वक चिपटा रहा, उसी को व्यवहार में लाता रहा। इसलिए, लखनऊ के मुस्लिम शासकों ने अपने बनाए गए भवनों के नाम फ़ारसी भाषा वाले ही रखे होते न कि संस्कृत भाषा के। इस्लामी आधिपत्य और विनाश की शताब्दियों के बावजूद संस्कृत शब्दावली का चालू रहना इस तथ्य को पूर्णतया उजागर कर देता है कि उस क्षेत्र में हिन्दू परम्परा की जड़ें अत्यन्त पुष्ट और गहरी रही हैं।

उस परम्परा से अनभिज्ञ, असावधान होने के कारण इतिहासकार मुस्लिम कपट-जालों द्वार दिग्भ्रमित हो गए हैं। लखनऊ क्षेत्र की इतिहास-पुस्तकें जिस भोले-भाले और सरल ढंग से लिखी गई हैं, उनका एक विशिष्ट दृष्टान्त एक गजिटियर के निम्नलिखित अवतरण से प्राप्त होता है—

"कैसर बाग़ और चीनी बाजार के विशाल चतुष्कोण के मध्य में सआदत अली खान और उसकी पत्नी मुर्शिदज़ादी के दो मकबरे हैं (उसकी मृत्यु के बाद इसे जन्नत आरामगाह कहा जाने लगा)। इन दोनों मकबरों को उनकी मृत्यु के बाद उनके बेटे ग़ाज़िउद्दीन हैदर ने बनवाया था, जिसके इस कार्य से माता-पिता के प्रति असाधारण पितृ-प्रेम प्रगट, प्रदर्शित हुआ। जिस स्थान पर अब सआदत अली का मकबरा बना हुआ खड़ा है, पहले उसी स्थान पर एक मकान था जिसमें अपने पिता के शासन-काल में गाजिउद्दीन हैदर निवास करता था; और यह बताया जाता है कि जब वह गद्दी पर बैठा और सआदत अली के महल में निवास किया, तब अपनी स्थितियों में परिवर्तन को पूरी तरह समझते हुए उसने कहा था कि चूँकि अब उसने अपने पिता का मकान ले लिया था, इसलिए उचित ही था कि वह अपना मकान अपने पिता को दे दे। तदनुसार, उसने आदेश दे दिए कि उसका पहले का निवास-स्थान नष्ट कर दिया जाय, और उसी स्थान पर सआदत अली खान के लिए मकबरा बनवा दिया जाए।"[११]

उपर्युक्त अवतरण के युक्तियुक्त विश्लेषण से एक उत्तम, व्यावहारिक दृष्टान्त उपलब्ध हो जाता है जो मध्यकालीन इतिहास के लेखकों की भयावह

---

११. अवध प्रान्त।

व्यावसायिक चूकों और अक्षमता को प्रस्तुत कर देता है। पहली गलती इस धारणा में है कि ग़ाज़िउद्दीन हैदर ने दो मकबरे बनवाए थे जो क्रमशः उसके पिता और माता के थे। हम पूछते हैं कि इनका साक्ष्य, प्रमाण कहाँ है?

आँग्ल-मुस्लिम आधिपत्य के अधीन लिखे गए इतिहासों की एक बड़ी भारी विफलता ऐसे निराधार साग्रह कथन प्रस्तुत करना ही रही है। यह तर्क कि मकबरा बनवाकर "ग़ाजिउद्दीन ने अपने माता-पिता के प्रति असाधारण प्रेम प्रदर्शित किया" उल्टा तर्क है क्योंकि गज़िटियर प्रारम्भ में ही यह बताने में विफल रहा है, कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सका है कि वे दोनों भवन , जिनमें उसके माता-पिता के मकबरे बने है, तथ्यतः उनके बेटे ग़ाज़िउद्दीन हैदर द्वारा ही बनवाए गए थे। उस निरर्थक कथन से यह निष्कर्ष निकालना अतिभ्रष्ट तर्क है कि ग़ाजिउद्दीन अवश्य ही अत्यन्त प्रिय पुत्र रहा होगा। यदि गाज़िउद्दीन को अपने माता-पिता के प्रचि सचमुच ही अनन्य प्रेम रहा था, तो उस तथ्य की पुष्टि माता-पिता के प्रति असाधारण प्रेम के अनेक उदाहरणों को उद्धृत करके करनी चाहिए जो उसने जीवन भर में चरितार्थ किए थे, न कि मात्र काल्पनिक मकबरा निर्माण की अन्तिम सीमा पर एकदम, अचानक पहुँचकर घोषणा करके। यह गलती मध्यकालीन इतिहास की सम्पूर्ण शृंखला में ही सामान्यतः व्याप्त रही है। उदाहरण के लिए, अनुमान किया जाता है कि शाहजहाँ ने ताजमहल बनवाया था और फिर यह तर्क दिया जाता है कि उसका मुमताज के प्रति अवश्य ही असामान्य, विशेष प्रेम रहा होगा।

यह तर्क भयंकर रूप से सरल है कि ग़ाज़िउद्दीन अपने पिता के राजमहल में चला गया और अपने पूर्व निवास स्थान को अपने पिता के मकबरे के रूप में उपयोगार्थ दे दिया। क्योंकि, वैसा होने पर, यह तो एक प्रकार का पूर्वोदाहरण ही होना चाहिए था कि मुस्लिम शहजादे, जो अपने पिता की गद्दी पर बैठते, अपने पूर्वकालिक मकानों को मकबरों में बदलने हेतु छोड़ देते । साथ ही, इस प्रकार का आदान-प्रदान अधिक-से-अधिक पिता के मकबरे का स्पष्टीकरण ही तो दे सकता है, किन्तु माता के मकबरे के बारे में क्या समाधान है? क्या यह तर्क दिया जाता है कि नवाब की गद्दी पर बैठने से पूर्व गाजिउद्दीन के पास दो और मात्र दो ही मकान थे, और उन दोनों को ही उसने अपने माता-पिता के मकबरों में बदलवा दिया था? ग़ज़िटियर में तो कहा गया है कि मात्र एक मकान को ही उसने अपने

पिता के मकबरे में परिवर्तित करा दिया था। वैसी स्थिति होने की हालत में, यह अनुमान करना पड़ेगा कि ग़ाज़िउद्दीन ने एक नया भू-खण्ड अधिग्रहीत किया था और उसी भू-खण्ड पर अपनी माता का मकबरा बनवाया था। यदि अन्तर्निहित भाव यही है, तो उसके लिए यह तर्क देने की आवश्यकता कहाँ थी कि चूँकि वह अपने पिता के राजमहल में निवास करने जा रहा था, इसलिए उसकी ओर से उचित यही था कि वह अपने पूर्वकालिक निवास-स्थान में अपने पिता के मृत-पिण्ड को स्थान दे? इस बात से यह स्पष्ट हो गया है कि गज़िटियर ने यन्त्रवत और अन्धाधुंध एक अत्यन्त सरस किन्तु सहज-साध्य कथा उद्धृत कर दी है जिसका आविष्कार किसी तलवे चाटने वाले दरबारी चाटुकार के अत्यन्त उपजाऊ दिमाग ने किया था। किन्तु इस बेहूदा, ऊल-जलूल तर्क की चरमसीमा होनी तो अभी शेष है। प्रत्यक्ष रूप में यह तर्क करने के बाद कि चूँकि वह अपने पिता के राजमहल में चला गया था, इसलिए उपयुक्त यही था कि वह अपने पूर्व-निवास स्थान को अपने पिता के मृत-पिण्ड के लिए प्राप्य कर दे, ग़ाज़िउद्दीन ने जो कुछ वास्तव में किया बताया जाता है वह यह नहीं है कि उसने अपने कल्पित निवास-स्थान में वह मृत-पिण्ड प्रविष्ट कर दिया, अपितु यह है कि उसने वह मकान गिरवा दिया और मकबरे के रूप में एक अन्य भवन बनवा दिया। यदि तथ्य रूप में ग़ाज़िउद्दीन ने यही किया, तब तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना वह पूर्व-कथन स्वयं ही पूरी तरह असत्य सिद्ध कर दिया है कि अपने पिता के मृत-पिण्ड को ग़ाज़िउद्दीन के पूर्वकालिक निवास-स्थान में दफनाया गया है।

ऐतिहासिक शोध विधि-प्रक्रिया के विषय में लिखने वाले विद्वानों ने इसीलिए, सत्य ही, आग्रह किया है कि अपराध जाँच-पड़ताल, छान-बीन के उपायों को ऐतिहासिक शोध-कार्य में अवश्य ही प्रयोग में लाया जाना चाहिए। अपराध-अन्वेषणों में चिकने-चुपड़े कथनों को ज्यों-का-त्यों कभी स्वीकार नहीं किया जाता है। प्रत्येक कथन की, इसके सभी छायार्थों और जटिलताओं के लिए गहरी-सूक्ष्म जाँच-पड़ताल, छान-बीन की जाती है।

गज़िटियर के पर्यवेक्षण की इस प्रकार समीक्षा करने पर हमारा निष्कर्ष है कि ग़ाज़िउद्दीन के पिता और माता पूर्वकालिक हिन्दू भवनों में दफ़न किए हुए पड़े है। यदि ग़ाज़िउद्दीन ने उसको बनवाया होता, तो गज़िटियर ने निर्माणादेश और व्यय-विवरणों जैसे संगत, सम्बन्धित दरबारी-अभिलेखों को उद्धृत किया होता।

यह कहना कि ग़ाज़िउद्दीन ने अपने पिता का एक पूर्णतया नया मकबरा बनवाने के लिए स्थान प्रदान करते हुए अपना निवास-स्थान ही गिरवा दिया था, इतना सरल नहीं है कि इस पर विश्वास किया जा सके। जीवित शहजादे ग़ाजिउद्दीन के निवास-स्थान के लिए पर्याप्त रूप में उपयुक्त भवन क्या मृत नवाब सआदत अली खान के लिए उसी प्रकार उपयुक्त नहीं था? यदि यह धारणा है कि एक मकबरे का रूप-रेखांकन निवास-स्थान के रूप-रेखांकन से अवश्य ही भिन्न हो, तो इस विचार की पुष्टि उन भवनों से नहीं होती जो आजकल अकबर, हुमायूँ और सफ़दरजंग के मकबरे समझे जाते हैं। वे सबके सब राजमहल हैं।

उस भवन का नाम 'जन्नत आरामगाह' चलता न रहता जिसमें सआदत अली खान दफ़नाया गया विश्वास किया जता है, यदि यह भवन मात्र एक मकबरा ही रहा होता। यदि यह विवरण सआदत अली खान के मकबरे में उपयुक्त, संगत बैठता है, तो इसी को ग़ाज़िउद्दीन की माँ के मकबरे में भी क्यों न प्रयोग किया जाए? ''जन्नत आरामगाह'' का अर्थ ''स्वर्गिक विश्राम-गृह'' है।

यह विश्वास, कि ग़ाज़िउद्दीन ने अपना शाहज़ादाना राजमहल गिरवा दिया था और उसी स्थान पर अपने मृत पिता के लिए एक भव्य, विशाल मकबरा बनवा दिया था, अयुक्ति-संगत है। क्योंकि नाम-मात्र का शहज़ादा, जो ब्रिटिश प्रशासन का एक नगण्य पेंशन-भोगी मात्र रह गया था, सन् १९१४ ई० वाले वर्ष में द्वयर्थक कार्य नहीं कर सकता था कि इधर तो अपना शहज़ादाना राजमहल गिरवा दे और उधर अपने पिता के मृत-पिण्ड के लिए एक अन्य भवन (मकबरा) बनवा दे। अतः, अपने माता-पिता के लिए राजप्रासादीय मकबरे बनवा देने वाली ग़ाज़िउद्दीन की सम्पूर्ण कहानी एक बड़ी भारी झाँसा-पट्टी है। हमने इस विवरण का सविस्तार विश्लेषण पाठक को मात्र यह दर्शाने के लिए किया है कि सत्य पर पहुँचने के लिए ऐतिहासिक पुस्तकों में समाविष्ट साग्रह कथनों की किस प्रकार समीक्षा करना आवश्यक है।

हम आशा और विश्वास करते है कि इस पुस्तक के अध्ययन के बाद मार्गदर्शकों और मार्ग-दर्शिका पुस्तिकाओं द्वारा उस क्षेत्र के इतिहास के सम्बन्ध में जो धोखा लखनऊ और फैज़ाबाद के निवासियों, उन दो नगरों के दर्शकों और इतिहास के विद्यार्थियों के साथ किया जाता रहा है न केवल उसको, अपितु सामान्य रूप में भारतीय मध्यकालीन इतिहास से सम्बन्धित अनेक अन्य पाखण्डों को भी रोक दिया जाएगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. कनिगहॅम्स् रिपोर्ट भाग १।

२. सिटीज् आफ इण्डिया, जी० डब्ल्यू० फॉरेस्ट, प्रकाशित १९०५, आर्चिबॉल्ड कॉंस्टेबल अंड कम्पनी लिमिटेड।

३. वॉरन् हेस्टिंग्ज अँड अवध, सी० वॅनलिन डेव्हीज़्, प्रकाशित १९३०, आक्सफोर्ड युनिव्हर्सिटी प्रेस, लण्डन।

४. दि फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, दूसरा संस्करण १९५४, शिवलाल अग्रवाल अँड कंपनी लिमिटेड, आगरा।

५. लखनऊ (भारत सरकार के परिवहन मंत्रालय के टूरिस्ट ट्रॅफिक विभाग द्वारा प्रस्तुत), मार्च १९५४।

६. मॉन्युमेंटल एंटिक्विटीज् अँड इंस्क्रिपशन्स्, भाग २, आर्किआलॉजिकल सर्व्हे आफ इण्डिया (नई माला), भाग ३, नार्थ वेस्टर्न प्रॉव्हिसेस् अँड अवध।

७. इण्डियन आर्किटेक्चर : इटस् सायकॉलाजी, स्ट्रक्चर अँड हिस्ट्री फ्रॉम द फर्स्ट महोमेडन इन्व्हेजन टू द प्रेजेंट डे, इ०वी० हॅवेल, लंडन, मुरे, अलबेमार्ल स्ट्रीट, १९१३।

८. गॅझेटिअर आफ दि प्रॉव्हिन्स् आफ अवध, भाग २, H से M तक (भारत सरकार), प्रकाशित १८७७।

९. लखनऊ—गॅजेटियर II, भाग ३७, डिस्ट्रिक्ट गॅजेटिअर्स आफ द युनाइटेड प्रॉव्हिन्सेस आफ आगरा अँड अवध, एच०आर० नेव्हिस द्वारा संकलित व सम्पादित, अलाहाबाद, १९०४।

१०. तफजीहुउल गाफिलिन् आफ आसफउद्दौला, अबु तलिब, अनुवादक विलियम् होय, अलाहाबाद, १८८५।

११. तारीख फराहबख्श आफ मुहम्मद फैज, विलियम् होय द्वारा फारसी से अनुवादित, १८८२।

१२. हिस्ट्री आफ इण्डियन् अँड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जेम्स् फर्ग्युसन्, रिव्हाइज् अँड एडिटेड विथ आडिशन्स बाय जेम्स बर्जेस् अँड् आर० पी० स्वायर्स, भाग २।

१३. एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग १२, १९६१।

१४. कीन्स् हैंडबुक फॉर व्हिजिटर्स् टु देहली, लखनऊ इत्यादि, छठवाँ संस्करण, १९०६, थैकर स्पिक अँड कम्पनी।

१५. द शॉर्ट हिस्ट्री आफ लखनऊ, मेजर ए० ट० अँडरसन्, अलाहाबाद, १९१३।

१६. दि लखनऊ अलबम् कंटेनिंग ए सीरीज आफ ५० फोटोग्राफिक व्यूज् आफ लखनऊ अँड इट्स् एन्व्हायरॉन्स टुगेदर विथ ए लार्ज साइझ प्लान आफ दि सिटी एक्जीक्यूटेड बाय दरोगा अब्बास अली, असिस्टेंट म्युनिसिपल इंजीनियर, कलकत्ता, मुद्रक जी०एच० राउज्, बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, १८७४।

१७. दि टूरिटस् गाइड टु लखनऊ बाय एड्वर्ड एच्० हिल्टन्, चौथा संस्करण, १९०२।

१८. कौन कहता है अकबर महान था? लेखक पु०ना० ओक।

१९. ताजमहल हिन्दू राजमहल था? लेखक पु०ना० ओक।

२०. भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें।

२१. देहली का लालकिला हिन्दू लालकोट है।

२२. फतेहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर है।

२३. आगरे का लालकिला हिन्दू भवन है।

२४. सम मिसिंग चैप्टर्स आफ वर्ल्ड हिस्ट्री।

२५. दी सीक्रट्स बरीड इन् दि ताजमहल।

लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू राजभवन

पुरुषोत्तम नागेश ओक

हिन्दी साहित्य सदन